सृजन और अंतर अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य

डॉ० वीरेन्द्रसिंह

श्याम प्रकाशन, जयपुर

राजस्थान साहित्य अकादमी के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित



प्रकाशक : श्याम प्रकाशन
फिल्म कालोनी, जयपुर-302003

संस्करण : प्रथम, 1985

मूल्य : पचास रुपये

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कालोनी, जयपुर-302003

SERJAN AUR ANTAR ANUSHASHONIYA PARIPRAYKYA
By : Dr. Virendar Singh *Rs.* 50.00

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर

डा० रामकुमार वर्मा

एवं

डा० व्रजेश्वर वर्मा

को

जिनके स्नेह, सहयोग और प्रेरणा से

मैं

ज्ञान-संवेदन के गवाक्षों से

सत्य और यथार्थ

के

गतिशील रूप को निरन्तर

आत्मसात्

करने का प्रयत्न करता रहा !



परिप्रेक्ष्य

आधुनिक सृजन की गतिशीलता को, उसके सार्थक एवं व्यापक परिप्रेक्ष्य को, ठीक प्रकार से समझने के लिए सामाजिक संदर्भ की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही ज्ञान के अन्तर्-अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य की, क्योंकि सृजन और विचार के स्तर पर उनका एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध प्राप्त होता है। विभिन्न अनुशासनों का अनुशीलन और उससे विकसित "एप्रोच" की दृष्टि जहां रचनाकार को नए 'उत्खनन' की ओर अग्रसर करती है, वहीं आलोचक को कृति और रचना के व्यापक एवं विभिन्न 'अर्थ-संवेदनों को रेखांकित करने की शक्ति प्रदान करती है। यहां पर आस्वादन एवं विचार एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि सृजन और आलोचना दोनों इसकी मांग करते हैं, पर आलोचना कर्म इसके बगैर एकांगी और अधूरा ही माना जाएगा। आलोचक आस्वादन को विचार से पुष्ट करता है और साथ ही 'विचार' को आस्वादन से तरल एवं बोधगम्य बनता है। मैं 'आलोचना-कर्म' को इसी रूप मे लेता हूं और इस पुस्तक के निबन्ध इसी दृष्टि को न्यूनाधिक रूप में समक्ष रखते हैं।

आज का सृजन-संसार अनेक वैचारिक एवं संवेदनात्मक दबावों और द्वन्द्वों से टकरा रहा है, और इस प्रकार, कोई भी सृजन 'स्वायत' न होकर सापेक्ष सम्बन्धों और प्रभावों का गत्यात्मक रूप है। इतिहास, विज्ञान, धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र, पुरातत्व तथा राजनीतिशास्त्र आदि अनुशासनों का वैचारिक एवं प्रत्ययात्मक प्रभाव, सृजन के स्तर पर विभिन्न नए रूपाकारों, बिम्बों तथा प्रतीकों के प्रयोग के द्वारा संकेतित हो रहा है, और समकालीन आलोचक को इन प्रभावों के स्वरूप का एक तटस्थ विश्लेषण और रेखांकन आवश्यक है। संकलित निबन्ध इस मांग को नकारात्मक और सकारात्मक क्षेत्र पक्षों में विश्लेषित एवं संश्लेषित करते हैं। इन निबन्धों के सामान्यतः साहित्यिक सृजन के अन्तर-अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है, खासतौर पर इस बात को ध्यान में रखकर कि साहित्य-सृजन की अस्मिता को तथा उसके संवेदनात्मक एवं भावात्मक पक्षों को धूमिल न होने दिया जाए क्योंकि अन्य अनुशासनों की तरह साहित्य और कला भी एक अनुशासन है जिसकी अपनी एक अलग सत्ता है, वस्तुओं, स्थितियों, घटनाओं तथा सम्बन्धों को देखने और परखने का अपना विशिष्ट विज्ञान है।

इस संग्रह में कुछ ऐसे निबन्ध हैं जो शुद्ध रूप से साहित्यिक नहीं हैं, पर उनका सम्बन्ध अन्य अनुशासनों से होते हुए भी, परोक्ष रूप से वे साहित्य-सृजन को भी आंदोलित करते रहे हैं अथवा उनके द्वारा सृजन के नए अछूते आयामों का ऐसा संकेत प्राप्त होता है जो अंतर-अनुशासनीय दृष्टि की उपयोगिता तथा अनुभव तथा ज्ञान की गत्यात्मक प्रक्रिया को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे कुछ निबन्ध हैं—मिथ-मनोवैज्ञानिक व्याख्या, दिक्काल बोध, जन-संस्कृति का मिथक तथा विज्ञान-बोध और वैचारिकता आदि। इन निबन्धों का वैचारिक एवं प्रत्ययात्मक प्रभाव मेरे आलोचना-कर्म में प्राप्त होता है जिसके साक्ष्य हैं ये निबन्ध।

इस संग्रह के सभी संकलित निबन्ध विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर (1970–1984) प्रकाशित होते रहे हैं यथा—दस्तावेज, दीर्घा, नया आलोचक, धर्मयुग, मधुमाधवी, प्रतिशीर्षक, मधुमती, वीणा, तटस्थ, अंचल भारती, वरोह सप्तसिन्धु, पहल, भाषा, क ख ग, माध्यम, हिन्दी अनुशीलन, हिन्दुस्तानी सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग) तथा परिषद् पत्रिका (पटना) आदि। मुझे पूरी आशा है कि सुधी पाठकगण तथा आलोचक मेरे इस अंतर-अनुशासनीय 'एप्रोच' की न्यूनताओं और उपलब्धियों को रेखांकित करने का प्रयत्न करेंगे जिससे मुझे वैचारिक गति प्राप्त हो सके।

अन्त में, मैं श्याम प्रकाशन के संचालक ओमप्रकाश अग्रवाल का हृदय से आभारी हूं जिन्होंने राजस्थान साहित्य अकादमी के आंशिक आर्थिक सहयोग के अलावा राशि लगाकर मेरे श्रम को साकार किया।

जयपुर
1 फरवरी, 1985

डॉ० वीरेन्द्रसिंह

अनुक्रम

आलोचना के नए प्रतिमान

समकालीन कविता या किसी भी साहित्यिक विधा के मूल्यांकन के लिए किसी स्थिर 'प्रतिमान' को आधार नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि रचनात्मकता की गतिशीलता के साथ नये प्रतिमानों की तलाश होती है तथा परम्परागत प्रतिमानों का नयी वैचारिक एवं सामाजिक स्थितियों के प्रकाश में पुनर्विवेचन। यहां पर यह आवश्यक है कि आज की कविता के संदर्भ में प्रतिमानों की खोज की जाए क्योंकि समकालीन कविता छायावादी या मध्यकालीन कविता से भिन्न है, और यह भिन्नता एक ऐतिहासिक सत्य है। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कविता का मिज़ाज और रूप इस सीमा तक बदला है कि नये प्रतिमानों की आवश्यकता अनिवार्य है। यह सवाल एक व्यापक प्रश्न है जो प्रत्यक्ष रूप से एक ऐसे सौंदर्यशास्त्र की अपेक्षा रखता है जो युगबोध और संवेदना को सही परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सके। इसे मैं 'नया सौंदर्यशास्त्र' कहना चाहूंगा जो इतिहास-दर्शन और विज्ञान-दर्शन के संदर्भ में ही प्रस्तुत और रेखांकित किया जा सकता है।

इतिहास-दर्शन में दो प्रकार की विचारधाराएं मिलती हैं जो सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं। एक है भाववादी विचारधारा जो वस्तुजगत के यथार्थ को नकारात्मक रूप में ग्रहण करती है और तमाम नैतिक समस्याओं को पारलौकिक समाधान देना चाहती है। दूसरी ओर वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि है जो मात्र वस्तुजगत को ही सत्य मानती है। मानव-विकास में यह दृष्टि 'मार्क्सवाद' में उभरकर आयी है जो इतिहास की द्वन्द्वात्मकता को और वर्ग-चेतना को आज के संदर्भ में उजागर करती है। यदि गहराई से देखा जाए तो मार्क्सवाद एक विकल्प है, एक विचार-दर्शन है जो अन्ततः 'यूटोपिया' का सृजन करता है। मुझे यह स्पष्ट लगता है कि 'सत्य' एकांगी नहीं होता है, वह बहिर्जगत एवं अन्तर्जगत की सार्थक संगति में, सार्थक संवाद में निहित है। सौंदर्यशास्त्र का रूप मात्र बुर्जुआ विचारों का रूप नहीं है, और दूसरी ओर वह मात्र तथाकथित मार्क्सवाद या किसी भी 'वाद' का 'माउथपीस' नहीं है। यह सही है कि समकालीन सौंदर्यशास्त्र वस्तुजगत के यथार्थ को, उसकी संघर्षशीलता और तनाव को ध्यान में रखकर ही निर्मित

किया जा सकता है और दूसरी ओर अन्तर्जगत् की संवेदनशीलता से उसे अधिक जीवंत और रचनात्मक बनाया जा सकता है। यदि मैं इसे दूसरे शब्दों में रखूं तो नया सौंदर्यशास्त्र केवल कलास्वाद का शास्त्र नहीं है, पर इसके साथ ही साथ वह एक बोधपरक मूल्य-शास्त्र है। बुर्जुआ या परम्परागत सौंदर्यशास्त्र महज कलानिर्मित और कलास्वाद के प्रश्नों तक साहित्य को सीमित करना चाहता है, बुर्जुआ सौंदर्यशास्त्र सामयिक मूल्यों की संदर्भता का कायल नहीं है। इस प्रकार, नया सौंदर्यशास्त्र कलामूल्य और जीवनमूल्य के बीच की खाई को पाटता है और एक-दूसरे की सापेक्ष संगति को सामने रखता है। नया सौंदर्यशास्त्र मात्र विषयीगत प्रतिमानों का पक्षधर नहीं है। पर वह वस्तुगत यथार्थ जगत के प्रतिमानों को अधिक महत्त्व देता है और उसकी मान्यता है कि साहित्य और कला की महानता का सामाजिक आधार अन्तर्जगत और बहिर्जगत की क्रिया-प्रतिक्रिया और द्वन्द्व में है। यह द्वन्द्व जितना तीव्र होगा, रचना उतनी ही अर्थवान होगी। इसी आधार पर प्रेमचन्द, गोर्की, मुक्तिबोध और निराला आदि जैनेंद्र, अज्ञेय, जीद और प्रूस्त से निश्चित ही महान रचनाकार हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अज्ञेय, जीद आदि का महत्त्व नहीं है क्योंकि उन्होंने अन्तर्जगत् की गहराई को जिस रूप में ग्रहण किया है, वह भी मानव-मन के यथार्थ का एक तत्त्व है। असल में नया सौंदर्यशास्त्र 'अति' का पक्षधर नहीं है, और इस दृष्टि से जो भी रचनाकार बाह्य का सार्थक अभ्यान्तरीकरण नहीं कर पाए हैं, वे रचनात्मकता को सार्थकता नहीं दे पाये हैं। 'मात्रा' का अंतर तो हो सकता है और स्पष्ट रूप से यह अंतर समकालीन कविता में प्राप्त होता है। विनय, बलदेव वंशी, रमेशचंद्र शाह, धूमिल, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, कुमार विमल और ऋतुराज आदि अनेक ऐसे कवि हैं जो न्यूनाधिक रूप से इस 'अंतर' को रेखांकित करते हैं। उदाहरण के तौर पर विनय और विमल में 'अंतर' का आग्रह अधिक है और दूसरी ओर विश्वंभर उपाध्याय, बलदेव वंशी में बाह्य का आग्रह अधिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ये कवि जो विभिन्न 'वादों' और विचारधाराओं से सम्बन्धित हैं, किसी न किसी रूप में नये सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिमानों का निर्माण कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि रचना के संदर्भ में सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण होता है जो नयी संवेदना को रेखांकित कर सके। कृति की राह से गुजरकर ही प्रतिमानों का क्रमशः सृजन होता है, और इस दृष्टि से कृति और आलोचक का सम्बन्ध जितना वस्तुपरक होगा वह मूल्यांकन इतना ही सटीक एवं सार्थक होगा। समकालीन कविता के संदर्भ में आलोचक की यह वस्तुगत भूमिका कम होती जा रही है और व्यक्तिगत 'आग्रह' तथा 'सम्बन्ध' मूल्यांकन को गतिशील नहीं बना पा रहे हैं।

यहां पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जाता है कि नया सौंदर्यशास्त्र उपयोगितावाद को प्रश्रय देता है। 'उपयोगितावाद' का अर्थ यहां दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त

(बेंथम आदि) अर्थ से भिन्न है, यदि समानता है तो सामाजिक आशय और सरोकार से। कला-सृजन के दौरान रचनाकार 'आत्मा' की अभिव्यक्ति मात्र नहीं करता है, पर वह एक अन्वेषण और खोज की प्रक्रिया से गुजरता है। यह तो कविता और साहित्य की चरम सिद्धि है कि मानव जीवन की वैसी ही आधारभूत आवश्यकता बने जैसे उसके लिए वस्त्र और आवास। यही नये सौंदर्यशास्त्र का उपयोगितावाद है जो शुद्ध कलावादियों के गले नहीं उतरता है।

नये सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमानों में एक महत्वपूर्ण प्रतिमान 'विचार' की रचनात्मक अभिव्यक्ति है। यहां पर मैं 'वाद' या 'विचारधारा' शब्दों का प्रयोग नहीं कर रहा हूं क्योंकि 'वाद' का एक अपना परिसीमन होता है जिसके दायरे में बंधा रचनाकार एक सीमा के बाद कुंठित होने लगता है या पुनरावृत्ति करने लगता है। समकालीन कविता के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि आज की कविता मात्र भावना की कविता नहीं है, पर वह मूलतः विचारों के द्वन्द्व की कविता है। संवेदना और भाव का औचित्य विचार की गतिशीलता मे है। विचार और ज्ञान का यह अन्तः सम्बन्ध समकालीन कविता का एक प्रेरक तत्व है, और जहां पर भी यह वैचारिक द्वन्द्व की गतिशीलता कम या कुंठित होने लगती है, वहां पर रचनाशीलता एक आयामिक होने लगती है। इसी के साथ मैं यह भी स्पष्ट करना चाहता हूं कि 'वाद' भी एक प्रकार का विचार-दर्शन है जो अन्ततः रचना-दृष्टि मे सहायक और प्रेरक होता है। 'विचार' की गतिशील प्रक्रिया में 'वाद' या 'विचारधारा' बाधक नहीं होते हैं, यदि रचनाकार पूर्वाग्रह के शिकंजे में न आ जाए अथवा उससे अपनी कोई स्वार्थसिद्धि न करने लगे। समकालीन कविता के अनेक ऐसे कवि हैं जो इस शिकंजे के शिकार हैं, कुछ उससे उबरने की प्रक्रिया में हैं। मेरा तात्पर्य केवल यह है कि 'रचना-दृष्टि' कुंठित नहीं होनी चाहिए, चाहे आप किसी भी 'वाद' के पक्षधर क्यों न हों? मुक्तिबोध ने जिस 'ज्ञान-संवेदन' की बात कही है, वह एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है क्योंकि समकालीन कविता ज्ञान और संवेदन (अनुभव) के दो स्तरों को जहां तक एक संगति में रूपांतरित कर सकेगी, वह कवि उतना ही 'विचारशील' कहा जायेगा। विनय, बलदेव वंशी, विश्वंभर उपाध्याय, विमल, रणजीत तथा दिविक रमेश आदि ऐसे कवि हैं जो इस विचारशीलता को न्यूनाधिक रूप से रूपायित कर रहे हैं। इस रूपायन में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों और अनुशासनों का गहरा सम्बन्ध है क्योंकि समकालीन कविता और साहित्य का क्षेत्र तभी व्यापक हो सकेगा जब रचनाकार अन्तर अनुशासनीय 'दृष्टि' से उद्भूत नये बिम्बों और रूपाकारों का सृजन कर सकेगा। उदाहरणस्वरूप एक ओर मुक्तिबोध ने विज्ञान-बोध और इतिहास-बोध से उद्भूत नये बिम्बों और रूपाकारों का प्रयोग किया है, तो दूसरी ओर विश्वंभरनाथ उपाध्याय, विनय तथा वंशी ने (और भी कवि हैं) तंत्र, विज्ञान,

दर्शन और समाजशास्त्र के अनेक प्रत्ययों और बिम्बों को रचनात्मक संदर्भ दिया है। विश्वंभर उपाध्याय की निम्न पंक्तियां आज के संघर्षशील व्यक्ति की विडम्बना को काल के एक नये बिम्ब के द्वारा व्यक्त करती हैं, जो दर्शन और विज्ञान-बोध का मंथन है—

एक विराट बेलन घूम रहा है/गहरी पड़ी लीक में/उनमें हम रगड़े-घिसे जा रहे हैं।

और दूसरी ओर विद्युतीकरण-प्रक्रिया का प्रयोग मानवीय सम्बन्धों की अर्थहीनता को व्यक्त करता है—

वस्तुओं और व्यक्तियों का विद्युतीकरण/इतना हुआ है/कि कनेक्शन मिलते ही फ्यूज उड़ जाता है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण विनय, वंशी और कुमार विमल आदि की कविताओं से दिए जा सकते हैं जो समष्टि रूप से विचार की गतिशीलता को, उसके द्वन्द्वात्मक रूप को तथा उसके रचनात्मक संदर्भ को विविध आयाम प्रदान करते हैं। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि विचार का रूपान्तरण रचना के धरातल पर 'संवेदना' को आन्दोलित कर सके और साथ ही हमारे 'सोच' को गति प्रदान कर सके। एक वाक्य में कहें तो विचार और प्रत्यय 'सृजन या रचना' को जन्म दे सके क्योंकि कविता या कला का सबसे प्रमुख तत्व उसकी 'सृजनशीलता' है और सब तत्व उसके पूरक हैं। यहां पर मार्क्स का एक प्रसंग स्मरण आता है। एक नये कवि ने अपनी कुछ कविताएं मार्क्स को टिप्पणी हेतु भेजीं। मार्क्स ने जो सबसे पहले वरीयता दी, वह थी कविताओं की सृजनात्मकता। सबसे पहले कविता को 'कविता' होना चाहिए और फिर उसकी व्यापकता (सामाजिक आदि) का संदर्भ। वही कविता अर्थवत्ता प्राप्त करती है, और 'काल' की सापेक्षता में 'जीवित' रहती है जो उपर्युक्त दोनों तत्वों का सार्थक समन्वय एवं संतुलन कर सके। इसे अन्य प्रकार से इस तरह रखा जा सकता है कि समकालीन संदर्भ में "विचार का रचनात्मक संदर्भ एक महत्वपूर्ण प्रतिमान है जो समकालीन कविता की सही 'पहचान' के लिए अनिवार्य है।"

विचार के उस रचनात्मक पक्ष के साथ परम्परागत प्रतिमानों को उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है जहां तक वे नये 'सौंदर्यशास्त्र' की आवश्यकता को पूरा कर सकें। इस दृष्टि से वक्रोक्ति, ध्वनि और रस के उन्हीं तत्वों को 'नया सौन्दर्यशास्त्र' ग्रहण करता है जो विचार की रचनात्मकता और उसके परिवेशजन्य 'मूल्यों' को गति दे सके। ध्वनि की शब्द शक्तियां (सांकेतिकता), रस का लौकिक एवं सामाजिक पक्ष और वक्रोक्ति की सहजता नये सौन्दर्यशास्त्र को मान्य है जो द्वन्द्वात्मकता को अर्थवत्ता प्रदान कर सकें। इन परम्परागत अवधारणाओं के द्वारा

कविता का समग्र बोध सामने ग्राना चाहिए। रस की बुर्जुग्रा व्याख्या के स्थान पर रस ग्रौर ध्वनि की बृहत्तर मानवीय व्याख्या को नये सौन्दर्यशास्त्र के ग्रालोचकों ने स्वीकार किया है। इतिहास ग्रौर दर्शन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया ने नये सौन्दर्यशास्त्र को यह भी बोध कराया है कि परम्परा की एक जीवंत विरासत होती है जो नये चिंतन के प्रकाश में नये सौन्दर्यबोध को जन्म देती है। इस सौन्दर्यबोध में ज्ञान-विज्ञान तथा परिवेशजन्य स्थितियों का एक ऐसा संघात है जो नये सौन्दर्यशास्त्र में द्वन्द्वात्मकता का एक व्यापक सन्दर्भ है जिसका ग्रर्थ है "जीवंत ग्रनेकपक्षीय ज्ञान जो ग्रनेक दृष्टियों ग्रौर धारणाग्रों की प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव-मन ग्रौर यथार्थ की ग्रनुभूति प्राप्त करता है।" कला ग्रौर साहित्य (कविता भी) इसी ग्रनेकग्रायामी ज्ञान को रचनात्मक संदर्भ प्रदान करती है। मुक्तिबोध का इतिहास-बोध इसी द्वन्द्वात्मकता (विचार ग्रौर ग्रनुभव) को व्यक्त करता है—

ऐसी है वह हवा, जिसकी हर लहर में/ग्रात्मा की सहस्र धाराग्रों का वेगवान् स्पर्श/ग्रौर उस स्पर्श में/मानवेतिहासों के घूमते हुए ग्रंगार-वर्ष/दूर देश-देशों का वृहद् जीवनानुभव/विवेकों के प्रतिनिधि किसी स्पष्ट लक्ष्य का छवि-उत्कर्ष।

समकालीन कविता के परिप्रेक्ष्य में विचार का रचनात्मक संदर्भ

समकालीन कविता के सन्दर्भ से विचार कविता की बहस को उठाया गया है जो मेरे विचार से समकालीन कविता का एक प्रमुख तत्व है। इसका मतलब यह नहीं है कि 1960 से पूर्व कविता मे विचार-तत्व का प्रभाव था, हां इतना अवश्य था कि विचार की निहिति तथा उसकी मात्रा मे एक विशेष प्रकार का अन्तर था। दूसरी बात यह कि विचार और भाव का सापेक्ष सम्बन्ध है जहा तक रचनात्मकता का प्रश्न है, यह दूसरी बात है कि किसी समय में भाव की प्रधानता किसी न किसी रूप में प्राप्त होती है और विचार की अन्तःसलिला अपरोक्ष रूप से प्रवाहित रहती थी। इस प्रवृत्ति के विपरीत "निराला" एक ऐसा कवि है जिसने विचार को कहीं कही पर प्रधानता देते हुए उसके रचनात्मक सदर्भ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। नए पत्ते, कुकुरमुत्ता तथा "गर्म पकोड़ी" आदि उनकी कुछ ही ऐसी रचनाएं हैं जो विचार तत्व को एक रचनात्मक संदर्भ देने में सफल हुई हैं। आगे चलकर नयी और समकालीन कविता में विचार तत्व की क्रमशः प्रधानता होने लगी जो कहीं दार्शनिक भगिमा के साथ (नयी कविता) तो कहीं ऐतिहासिक और सामाजिक भंगिमाओं से युक्त होकर समकालीन कविता सामने आई।

उपर्युक्त सामान्य प्रवृति के विवेचन से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि कविता के सन्दर्भ मे विचार किस अर्थ और किस आशय को समक्ष रखता है। जब हम यह कहते हैं कि विचार का एक रचनात्मक सदर्भ होता है, तो इसका अर्थ क्या है? मानव को विचारशील प्राणी कहा गया है और विकासवाद की दृष्टि से मानव को "होमो सिम्बालिकस" (Homo Symbolicus) कहा गया है जो विवेकवान (होमो) प्राणी है और साथ ही उसमें भाषा और प्रतीक प्रयोग (सिम्बालिकस) की क्षमता है। यह उसकी एक ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग कर देती है, पर यह भी सच है कि वह अनेक स्तरो पर (शारीरिक एवं आतरिक संरचना) मानवेतर प्राणियों से जुड़ा हुआ भी है। इस दृष्टि से विचार एक मानसिक

प्रक्रिया है जिसकी प्रवृति मूलतः सघनात्मक होती है। यही कारण है कि विचार कविता की संरचना सघनात्मक अधिक होती है जबकि भाव प्रधान कविता की संरचना तरलवान् अधिक होती है। भक्तिकाल तथा छायावाद की कविता "तरल" अधिक है जबकि नयी और समकालीन कविता "सघन" अधिक है। इसका कारण विचार की अन्विति है। छायावाद तक विचार की अन्विति भाव प्रधान थी जबकि नयी और समकालीन कविता में विचार की निहिति अपेक्षाकृत अधिक होने से कविता का प्रतिमान ही बदल गया है यहां तक कि कविता की परिभाषा में अन्तर आ गया है। अब कविता एक वैचारिक अनुशासन है, जिसमें विचारों के समीकरण प्राप्त होते हैं। प्रत्येक समीकरण अपने में स्वतन्त्र होते हुए भी दूसरे समीकरणों से 'संवाद' की स्थिति में रहते हैं। इस प्रकार आज कविता में विचार के तन्तुओं का एक सिलसिला रहता है जो ऊपर से बिखराव-सा लगता है, पर उनकी संरचना में विचारों का, सलिल प्रवाह प्राप्त होता है। मुक्तिबोध, अज्ञेय, धूमिल, जगूड़ी, राजकमल चौधरी, सतोश वर्मा, बलदेव वंशी आदि कवियों में विचारों का यही रूप न्यूनाधिक रूप से प्राप्त होता है।

विचार का रचनात्मक संदर्भ इस बात में माना जा सकता है कि विचार कहां तक "सवेदना" के धरातल पर रूपांतरित करता है। संवेदना का स्वरूप जटिल और जैविक है क्योंकि सवेदना के गठन में तीन प्रकार की शक्तियां सापेक्ष रूप मे कार्य करती हैं। प्रथम तत्व है परिवेश। दूसरा तत्व परिवेश से प्राप्त "अनुभव" तथा तीसरा ज्ञान और विचार। परिवेश एक व्यापक संदर्भ है जिसमें सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा पारिवारिक परिस्थितियां सन्निहित रहती हैं और रचनाकार इन समस्त क्षेत्रों का "अनुभव" प्राप्त करता है। यह अनुभव बाह्य जगत सापेक्ष है जो निरीक्षण (Observation) के द्वारा भी प्राप्त किया जाता है और इसके अतिरिक्त किसी समूह या समाज के विभिन्न अंग होकर उसका प्रामाणिक अनुभव प्राप्त किया जाता है। रचना के धरातल पर वे दोनों प्रकार के अनुभव कार्य करते हैं और इसी अर्थ में अनुभव की प्रामाणिकता को माना जा सकता है। रचनाकार इस "अनुभव" को महत्व देता हुआ भी ज्ञान और विचार से उसे "गतिशील" बनाता है। अनुभव ज्ञान नहीं है, पर वह ज्ञान की आधारभूमि है। अनुभव व्यक्तित्व को निखार देता है जबकि ज्ञान "व्यक्तित्व" को रूपांतरित करता है। अनुभव में तीव्रता और आवेग होता है पर ज्ञान में गहराई और गरिमा होती है। यह एक सत्य है कि वही रचनाकार काल की सापेक्षता में जीवित रहता है जो अनुभव के धरातल पर ही नहीं रुकता है, पर "ज्ञान" और [illegible] संपृक्त कर अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता [illegible] की तीव्रता तो प्राप्त होती है, पर ज्ञान का रचनात्मक रूपां[illegible]।

महत्व पा सका है। विचार और ज्ञान की कमी के कारण अनुभव की तीव्रता होते हुए भी अधिकांश कवि थोड़े समय के बाद अपने को बार-बार दोहराने लगते हैं। विचार की आवृत्ति बार-बार होने से रचना एक आयामिक (वन-डाइमेन्शनल) ही रह जाती है चाहे वह मार्क्सवादी विचारधारा हो, वामपंथी आवेश हो, समाजशास्त्रीय विचारधाराएं हों अथवा मनोवैज्ञानिक विचार हों। रचनाकार विचारधाराओं पर "संतरण" करता है और जब वह किसी एक सिद्धान्त या विचारधारा (चाहे वह मार्क्सवादी ही क्यों न हो) से अत्यधिक आबद्ध हो जाता है, तब वह या तो अपने को दोहराता है या जल्दी "चुक" जाता है। धूमिल कभी "संसद से सड़क" तक और कभी सड़क से संसद तक के बीच चक्कर लगाया करते हैं। धूमिल ही नहीं पर जगूड़ी, अजामिल, ललित शुक्ल, सौमित्र मोहन, ओमप्रकाश निर्मल आदि कवियों का यही हश्र हो रहा है। कोई भी विचारधारा या सिद्धान्त अन्तिम सत्य नहीं है क्योंकि वह तो सत्य को समझने का एक "कोण" मात्र है। व्यवस्था विरोध, अस्वीकार, क्रांति, फूहड़ बोध इतिहास बोध परम्परा विरोध ये कुछ ऐसे विचार या अवधारणाएं हैं जो आमतौर पर समकालीन कविता के प्रमुख "मिजाज" को व्यक्त करती हैं। अतः इसे "विरोध की कविता" भी कहा जा सकता है जो विरोध के दर्शन को प्रस्तुत करती है। यह विरोध का दर्शन परिवर्तन और बदलाव का विचार है जो ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक अत्यावश्यक तत्व है। इस विरोध में व्यंग्य और तड़प है जो शोषण की प्रक्रिया को व्यक्त करती है :—

> मुझ में तड़प रही है
> वाणी रहित होने की स्थिति
> मुंह से टपक रहा रक्त
> और तुम तालियां पीटते
> कब तक मापते रहोगे मेरी यातना
>
> (बलदेव वंशी)

दूसरी ओर जगूड़ी की ये पंक्तियां

> "यह ठीक है कि समय सबको अपने
> दांत मार रहा है
> लेकिन घाव और पीड़ा का समाज
> केवल घरेलू आदमी ढो रहा है।"
>
> (जगूड़ी, नाटक जारी है, पृ 26)

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जो अनुभव की तीव्रता और वस्तु स्थिति से सीधा और बेबाक साक्षात्कार है। इस सारी प्रक्रिया में "विचार" का सलिल प्रवाह है, पर उसका स्वरूप प्रच्छन्न है, वह मुक्तिबोध तथा निराला के समान

गरिमामय नहीं हो पाया है क्योंकि इसमें ज्ञान की "तपन" का प्रभाव है। भाषा में आवेग, आक्रोश तथा व्यंग्य की मुद्राएं हैं जो सीधे मस्तिष्क को आंदोलित करती हैं, हमें "सोचने" को विवश करती हैं। इसी से समकालीन कविता विचार की कविता है जिसमें भावावेश की अनेक भंगिमाएं प्राप्त होती हैं।

मानव इतिहास विचारों का इतिहास है जिसका मतलब यह है कि ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया में विचारों का एक प्रमुख रोल है। इसी के साथ यह भी एक सत्य है कि प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्तन अपने मिथकों और प्रतीकों का सृजन करता है और पुराने प्रतीकों और मिथकों को अपने समय के अनुसार पुनर्विवेचित करता है। विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है और ये प्रतीक तथा शब्द विचारों के वाहक होने के साथ काव्य के क्षेत्र में उनका एक रचनात्मक संदर्भ होता है। ये शब्द और प्रतीक विचारों की श्रृंखला को क्रमबद्धता प्रदान करते हैं तथा कभी कभी कुछ शब्द प्रतीक कवि के मानस में आंदोलित विचारों को व्यक्त करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि रचनाकार की रचना में कुछ शब्दों और प्रतीकों का बराबर प्रयुक्त होना यह संकेतित करता है कि कवि विचार तथा अवधारणा की कौन सी धारा की ओर उन्मुख है। इन शब्दों की नियति क्या होती है यह एक प्रश्न है। ये शब्द जब एक लम्बी अवधि तक अनेक रचनाकारों के द्वारा लगातार प्रयुक्त होने लगते हैं तब क्रमशः उनका अर्थ स्थिर होने लगता है और वे "प्रतीक" का रूप ग्रहण कर लेते हैं। छायावाद में प्रयुक्त ज्योत्स्ना, लहर, तरंग, खगकुल, शिशु, अप्सरा आदि ऐसे ही शब्द हैं जो लगातार प्रयुक्त होने से अपने अर्थ में निश्चित हो गये हैं जैसे ज्योत्सना चेतना के अर्थ में, लहर भावावेग के अर्थ में तथा खगकुल भावनाओं के कलरव के अर्थ में निश्चित से हो गये हैं। इसी प्रकार नयी कविता के अनेक शब्द (सीढ़ी, तहखाने, अन्धेरा, अन्धाकुआं, चिता आदि शब्द) अपने अर्थ में निश्चित् होते आ रहे हैं। जहां तक समकालीन कविता का प्रश्न है, उसमें प्रयुक्त शब्दों और प्रतीकों की स्थिति अभी अस्पष्ट है, कुछ के अर्थ निश्चित होने की प्रक्रिया में हैं और कुछ शब्द विभिन्न रचनाकारों के द्वारा अनेक प्रकार से प्रयुक्त होने से विचारों के विभिन्न आयामों को 'व्यक्तिगत' धरातल पर ही अभिव्यक्त कर रहे हैं। मार्क्सवादी विचार-धारा को व्यक्त करने के लिए द्वन्द्व, संघर्ष, चुप, चीख, आम आदमी, घुटन आदि शब्दों का प्रयोग संवेदना के धरातल पर हो रहा है। उदाहरणस्वरूप धूमिल में प्रयुक्त "चुप" और "चीख" शब्दों को लें जो अस्वीकार और क्रान्ति के तनाव को व्यक्त करते हैं—इन दोनों शब्दों के पीछे एक वैचारिक स्पन्दन है—

जबकि मैं जानता हूं
कि इंकार से भरी हुई एक चीख
और एक समझदार चुप
दोनों का मतलब एक है

भविष्य गढ़ने में "धुप" और "चीख"
अपनी अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना अपना फर्ज अदा करते हैं । (धूमिल)

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण में सतीश वर्मा ने "कार्बनिक बौने" शब्द प्रयोग के द्वारा क्रान्ति शब्द की विडम्बना की ओर संकेत किया है—

"कुछ कार्बनिक बौने
क्रांति को एक तमगे की तरह
लटका कर
मेरे पास आए
और जलते प्रश्नों को छूकर
गैस बन गए ।"

(सतीश वर्मा, गिनी-पिग)

विज्ञान-बोध से प्राप्त शब्द "कार्बनिक" और गैस का यहां पर एक रचनात्मक संदर्भ है जो "क्रांतिकारियों" के खोखलेपन को व्यक्त करते हैं । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों के शब्दों और प्रतीकों का एक रचनात्मक संदर्भ हो सकता है और इस प्रकार, कविता की भाषा का "नया मुहावरा" बनने लगता है । इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जो इस तथ्य को समक्ष रखते हैं कि विचारधाराओं का रचनात्मक पक्ष शब्दों और प्रतीकों के सार्थक प्रयोग में समाहित होता है । यदि इनका प्रयोग केवल "नारेबाजी" और गुटप्रतिबद्धता के निमित्त होगा, तो ये शब्द और प्रतीक क्रमशः बेमानी होते जायेंगे । आज के अनेक युवा रचनाकारों की स्थिति कुछ इसी प्रकार की होती जा रही है ।

समकालीन कविता के विचारों का एक रचनात्मक संदर्भ मिथक प्रयोग में देखा जा सकता है । नयी कविता में मिथकों का प्रयोग समकालीन कविता की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ है । नयी कविता में मिथक का प्रयोग सामान्यत. एक दार्शनिक भावभंगिमा से युक्त प्राप्त होता है जिसमें विचारों का सघनत्व अधिक है जबकि समकालीन कविता मे मिथक प्रयोग में आवेशजनित प्रवाह अधिक है, उसमें विद्रोह का एक ऐसा तल्खापन है जो भाषा के स्तर पर नयी कविता से काफी भिन्न है । यह सही है कि समकालीन कविता में मिथकों का विचारात्मक संदर्भ, वह भी 'सार्थक' एवं 'रचनात्मक संदर्भ' बहुत ही कम रचनाओं से प्राप्त होता है । इस दृष्टि से तीन काव्य रचनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । ये रचनाएं—डा. विनय की "एक पुरुष और", श्री रामदेव आचार्य की "एक पौराणिक वेदना" तथा श्री बलदेव वंशी की "आत्मदान" । ये तीनो रचनाएं अपने तरीके से मिथक को 'आधुनिक' सदर्भ देती हुई आज की विसंगतियो, विडम्बनाओं और विभिन्न विचारधाराओं के 'टकराव'

को रेखांकित करती हैं। ये विचारधाराएं वक्तव्यों के रूप में सामने आती हैं और ये "वक्तव्य" मिथकीय पात्रों के द्वारा वैचारिक संदर्भ को प्रस्तुत करते हैं। इन वक्तव्यों का स्वरूप आत्मकथात्मक भी होता है और आत्मविश्लेषणात्मक भी, जिसमें विचारों की विभिन्न भंगिमाएं क्रमागत रूप में क्रमशः प्रकट होती हैं। उपर्युक्त तीनों रचनाओं में वक्तव्यों का यही रूप प्राप्त होता है।

"एक पुरुष और" में विश्वामित्र और मेनका के मिथक को समसामयिक संदर्भ में रूपांतरित किया गया है। डा. विनय का यह खण्डकाव्य अकविता की प्रवृत्ति से सर्वथा भिन्न है और मुझे इस बात का आश्चर्य है कि भदेस एवं यौनग्रस्त कुंठाओं से ऊपर उठकर कवि ने (जो अकविता का पक्षधर है) मिथक का प्रयोग इस गहराई के साथ किया है कि उसके द्वारा एक वैचारिक धरातल की सृष्टि से मेनका और विश्वामित्र के "आत्मकथ्य" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें मूल्यों के "टकराव", विकास की विचारधारा और इतिहास की प्रक्रिया का एक समन्वित रूप मिलता है। विकास-प्रक्रिया में अस्मिता का साक्षात्कार नए सम्बन्धों और मूल्यों का एक सामंजस्य होता है और मेनका तथा विश्वामित्र के माध्यम से कवि ने बार-बार उनके द्वारा केवल "एक नारी और पुरुष" होने की जो बात कही है, वह स्थापित मान्यताओं और सम्बन्धों के प्रति एक "विद्रोह" ही नहीं है। पर कहीं न कहीं पर जुड़ने की अदम्य आकांक्षा भी है।

> विकास की प्रक्रिया है यह मेनका,
> कि सम्बन्धों को काटते काटते आदमी
> जुड़ जाता है नए सम्बन्धों से
> अकेले भागते हुए पाता है अपने को
> सबके साथ-कई बार।

(एक पुरुष और, पृ. 129)

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि संगठना (आँरगनाइजेशन) की क्रमिक जटिलता (जो मानवेतर प्राणियों से लेकर मानव तामधारी प्राणी तक प्राप्त होती है) विकास परम्परा को गति देती है और चेतना के क्रमिक विकास की ओर संकेत करती है। एक पुरुष और' में चेतना का यही ऊर्ध्वगामी रूप प्राप्त होता है—

> "जीवन को बार-बार दोहराई जाने की प्रक्रिया
> अन्त तक जाने की लालसा
> एक विवशता नहीं,
> ऊर्ध्वमुखी होने का प्रयास है!"

(एक पुरुष और)

इसके विपरीत बलदेव वंशी ने अहल्या और गौतम के मिथक-वृत्त के द्वारा उनके प्रतीकार्थों की सापेक्षता में आधुनिक वैचारिक संदर्भ देने का सराहनीय प्रयत्न किया है। "आत्मदान" एक लम्बा कविता-क्रम है जिसमें विचारों का क्रमिक स्वरूप प्राप्त होता है। सम्पूर्ण रचना में एक वैचारिक संयोजन है जो अहल्या को 'बुद्धि' का प्रतीक मानता है जिसे समाज व्यवस्थापक गौतम ने आश्रम में बन्दी बना लिया है। अहल्या का यह आधुनिक अर्थ रूपान्तरण पूरी कविता में व्याप्त है। पर इसके साथ ही साथ अहल्या (रात्रि-नारी), गौतम (चन्द्र-योग) और इन्द्र (सूर्य-भोग) के प्रतीकार्थों का भी निर्वाह सफलता से किया गया है। इस संदर्भ में मेरा ध्यान डा० नरेन्द्र कोहली के उपन्यास "दीक्षा" की ओर जाता है जिसमें अहल्या कथा-वृत्त को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया गया है। अहल्या का 'पाषाणवत्' होने का अर्थ उसका सपरिश्रम तपस्वी जीवन है जो इन्द्र के बलात्कार का शिकार होती है और विडम्बना यह है कि आश्रम के सभी तथाकथित बुद्धिजीवी इस अविचार को सहन करते हैं और किसी में भी यह साहस नहीं कि वह इन्द्र जैसे बलशाली देवता का विरोध कर सके। यह प्रसंग आज के बुद्धिजीवियों पर एक व्यंग्य है। "दीक्षा" और "अवसर" रामकथा पर लिखे गये पहले 'आधुनिक' उपन्यास हैं जिनमें रामकथा का सशक्त आधुनिक रूपान्तरण किया गया है।

"आत्मदान" का उपर्युक्त वैचारिक सन्दर्भ अनेक रूपों में व्यक्त होता है जो जीवन इतिहास, दिक्-काल, ज्ञान-प्रक्रिया, विरोध और संघर्ष के विविध विचारों को संवेदना के धरातल पर व्यक्त करता है। आत्मबोध एक प्रक्रिया है जो कवि के अनुसार संशयमूलक "ज्ञान" की आधारभूमि पर विकसित होती है। यह एक सत्य है कि संशय "ज्ञान" को गति देता है, अन्यथा "ज्ञान" को कुंठित करती है। इस सारी ज्ञान-प्रक्रिया को कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> संशय मूलक ज्ञान तर्क
> बुद्धि के सम-बल हैं
> पहले जगता है संशय
> फिर प्रकट ज्ञान
> फिर तर्क वितर्कोपरांत
> आत्मबोध जगता है
>
> (आत्म बोध—1)

"आत्मदान" में 'काल' की अवधारणा सतत प्रवाहमान धारा के रूप में की गयी है। जो एक आयामिक प्रत्यय है, पर उसका अस्तित्व निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। कवि ने काल के एक आयाम (लम्बाई) को अर्थवत्ता देने का प्रयत्न किया है,

पर दिक् से उसकी सापेक्षता को रेखांकित नहीं किया है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है (आइन्स्टाइन के सापेक्ष वाद के अनुसार) कि काल और दिक् सापेक्ष प्रत्यय है और समस्त ब्रह्मांड दिक् काल के चतुर्आयामिक प्रसार (फोर डाइमेंशनल स्पेश टाइम कांटिनुअम्) मे अवस्थित है, इसी में उसका सृजन और विलय निरन्तर हो रहा है। यह एक सतत् प्रक्रिया है जिसे कवि हृदयंगम करने में असमर्थ रहा है। इसके बावजूद "आत्मदान" कविता अहल्या के आत्मबोध और आत्मदान को वैचारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। वह अहल्या के व्यक्तित्व को एक नया आयाम प्रदान करती है, एक बात अवश्य है कि आत्मदान की अहल्या में वह आक्रोशजनित व्यंग्य नहीं है। जो हमें रामदेव आचार्य की कविता "एक पौराणिक वेदना" में द्रौपदी के आत्मकथ्य में प्राप्त होता है। भाषा के स्तर पर "आत्मदान" की भाषा ठंडेपन को लिए हुए है जबकि "एक पौराणिक वेदना" की भाषा में एक आक्रोश-जनित व्यंग्यात्मक विद्रोह का तीखापन है। यह आक्रोश नारी मन की तड़फ और विद्रोह को व्यक्त करती है। कविता की प्रथम पंक्ति से ही परम्परा से विद्रोह तथा अपनी दमनीय स्थिति के प्रति आक्रोश का स्वर प्राप्त होता है :—

> मैंने कब मांगे थे पांच पति ?
> पति कभी प्रेमी नही होते
> जो प्रेमी होते हैं कभी पति नहीं होते।

इस कविता का सबसे मार्मिक स्थल वह है जब द्रोपदी दंश, विडम्बना और विद्रोह की स्थितियों से गुजरती है और अपने को एक "वस्तु" (object) के रूप में पाती है जिसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। उसका यह कथन—

> कि पाँचों भाई बारी बारी से
> एक एक वर्ष के लिए मेरे पति बने
> तो मैंने अपने भीतर एक स्त्री को मरते हुए पाया,
> और मेरी जगह
> एक खूंटे बंधी गाय को
> झुकते हुए पाया
> जिसके शरीर से
> कोई भी वृषभ गुजर सकता है।

(एक पौराणिक वेदना)

आक्रोश का यह स्वर अन्त तक आकर और तीखा हो जाता है जब अर्जुन को छोड़कर वह अपने ऊपर थोपे हुए पतिनुमा व्यक्तियों के प्रति तीव्र घृणा से उठती है—

मैंने कब मांगा था
धर्मराज का बूढ़ा मन और ठण्डापन।
मैंने कब स्वीकारी थी
भोजनभट्ट और पेटू की गज-काया
मैंने कब वरा था
व्यक्तित्वहीन, नामहीन
दो नपुंसकों को।

(एक पौराणिक वेदना)

इसी प्रकार हम देखते हैं कि विचार के रचनात्मक संदर्भ में ज्ञान का अन्तर अनुशासनीय रूप सर्जना के धरातल पर रूपांतरित होता है। ज्ञान एक जैविक प्रक्रिया है और उसकी व्यापकता विभिन्न-ज्ञानक्षेत्रों के संवाद में है जिसे मैंने अन्तर अनुशासनीय रूप कहा है। रचनाकार इसी ज्ञान-संवेदन को विचार के धरातल पर रूपांतरित करता है।

समकालीन रचना का द्वन्द्व और हिन्दी कवयित्रियां

समकालीन कविता के पूरे परिदृश्य पर नजर डालने पर यह नितांत स्पष्ट है कि आज कुछ ही कवयित्रियां ऐसी हैं जो आज के बोध और विचार को रचनात्मक संदर्भ देने में समर्थ हुई हैं और साथ ही, यथार्थ से सीधी टकराहट से उत्पन्न 'दंश' को, आक्रोश को और आंतरिक पीड़ा को व्यक्त कर रही है। इस संदर्भ में एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि इन कवयित्रियों में भावात्मक एवं संवेदनात्मक मनोदशाएं अधिक हैं। वैचारिक द्वन्द्व की वह गहनता और ऊर्जा का अभाव है जो हमें धूमिल, मुक्तिबोध, कुमार विमल, विनय और बलदेव वंशी आदि की रचनाओं में प्राप्त होती है। यहां पर यह समझना भूल होगी कि इनमें वैचारिक द्वन्द्व है ही नहीं, पर केवल 'मात्रा' का अन्तर है जब हम उनकी तुलना कवियों से करते हैं। मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि नारी की मानसिकता, भावात्मक 'सवेग' के अधिक निकट प्राप्त होती है। इस मानसिकता की 'बनावट' में यथार्थ और वास्तव का गहरा पुट है, तो दूसरी ओर व्यक्तिगत धरातल पर एकाकीपन, प्रणय प्रेम का दंश, पुरुष के प्रति विशेष मनोभाव, व्यवस्था और मूल्यों के प्रति एक नकारात्मक भाव तथा कभी कभी रहस्य का एक संस्पर्श-इन कवयित्रियों के भाव-बोध को न्यूनाधिक रूप से आंदोलित एवं प्रेरित करते रहे हैं जो विविध भाषिक स्तरों के द्वारा "रूपाकार" ग्रहण करते है। इस संदर्भ में मैं पहले उन कविताओं को लेना चाहूंगा जिनमे यथार्थ और वास्तव में सीधो एवं परोक्ष टकराहट है।

यथार्थ एक ऐसा प्रत्यय है जो विविध आयामी है जिसमें इतिहास, व्यवस्था, तंत्र तथा विसंगतियों की एक द्वन्द्वात्मक स्थिति रहती है। नारी मन इन स्थितियों के प्रति भी जागरूक है, पर अनुभव की तीव्रता के अभाव के कारण यथार्थ का वह तीखा एवं बेचैन करने वाला रूप नहीं प्राप्त होता है जो हमें समकालीन कवियों में प्राप्त है। फिर भी, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसका पूर्ण अभाव भी है। प्रेमलता वर्मा, सुधागुप्ता, सुमन राजे, इन्दु जैन तथा अमृता भारती

इसकी स्पष्ट झलक प्राप्त होती है जो कहीं तीव्र, तो कहीं तरल है। यथार्थ और स्वप्न की टकराहट प्रेमलता वर्मा की इन पंक्तियों में देखें—

ये रंगीन सपने/जो इन्द्रधनुष थे/थप्पड़ खाकर उतर आए/वास्तव टीले पर/और मृत्यु भोजी कौवे से/गुमसुम एक टक बैठे हैं।

(हल्की रूई सी यादें)

यथार्थ का यह तीखा एहसास सुधा गुप्ता की कविताएं मुखर करती हैं जो उनके काव्य संग्रह "रोशनी की शहतीर" में यदा कदा प्राप्त होती है। भाषिक स्तर पर ये कविताएं अधिक पैनी एवं विद्रोह शोषण के प्रति एक ऐतिहासिक दृष्टि रखती है।

तुम केवल पीते रहोगी मौन/वह मौन तुम्हारे/भीतर ही नहीं/इर्द गिर्द भी फैला हुआ है/धीरे-धीरे, ये मौन की चीखें/पंख फैलाएं/तुम्हारे ऊपर, अंधी छायाएं कर देगी।

(रोशनी की शहतीर)

यही नहीं, कवयित्री को लगता है कि कहीं 'बर्फ सी आवाज' पिघलकर कभी भी 'लावा बन सकती है' जो स्पष्ट ही परिवर्तन और क्रांति की ओर संकेत है। इन 'सफेद पोशों' की नाक मे 'नकेल' डालनी होगी, यह काम संघर्परत आदमी ही करेगा जो शोषित और पीड़ित है। सुमन राजे की कविताओं में यथार्थ का रूप व्यंजनात्मक है जो 'लाश' शब्द के द्वारा व्यक्त हुआ है जो 'किलेनुमा घर' मे प्यास, प्रेम, मनुहार और गीतों में व्याप्त है। कवि इस यथार्थ को देखकर वीभत्स यथार्थ की ओर अग्रसर होता है। इन्दु जैन में यथार्थ का रूप कभी-कभी पौराणिक एवं मिथकीय संदर्भ लेकर आता है। शिव का नृत्य जहां परिवर्तन का अग्रदूत है वहीं यथार्थ के सर्प को अधिकार में करता 'कृष्ण' का रूप समक्ष आता है—

किन्तु, हर सर्पदंशी देह की आत्मा से एक कृष्ण/सांवली सशक्त बाहु उठा चला आएगा/सर्प की एक ऐंठन को ढीलाकर फन को आबद्ध कर नाच नचा जाएगा।

(चौसठ कविताएं, पृ. 104)

जनतन्त्र, व्यवस्था और मूल्यों के प्रति एक विषाक्त पैनापन मोनागुलाटी की कविताओं में कभी-कभी प्राप्त होता है और यही कारण है कि तुम के प्रति असंतोष एक तीखे एहसास को प्रक्षेपित करता है—

नीरसे की हड्डियों से वज्र बनाने का संकल्प किया है।
तुम्हारी गन्दी, घिनौनी गिद्ध जैसी आंखों को फोड़ देने के लिए।

(तटस्थ जुलाई 71)

इन सभी कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि यथार्थ के प्रति ये कवयित्रियां जागरूक हैं, पर यथार्थ का द्वन्द्वात्मक रूप, जो वैचारिक द्वन्द्व से उद्भूत हो उसका अभाव है। आज की कविता इस वैचारिक द्वन्द्व को रेखांकित करती है जो अनुभव और ज्ञान की सापेक्ष स्थिति में स्वस्थ रूपाकार ग्रहण करती है। आज का कवि शीघ्र चुक जाता है कदाचित् उसका कारण अनुभव और ज्ञान की द्वन्द्वात्मक गतिशीलता का अभाव है। नारी की स्थिति तथा उसकी मानसिकता इस 'गतिशीलता' को उस सीमा तक ग्रहण नहीं कर पायी है जो सामाजिक यथार्थ को सशक्त रचनात्मक संदर्भ दे सके।

इसके विपरीत जहां व्यक्तिगत अनुभव और बोध का प्रश्न है, ये कवयित्रियां कहीं अधिक सफल हुई हैं। पीड़ा, वेदना, प्रेम, अकेलापन, मनःस्थितियों का चित्र, प्रकृति चित्र तथा रहस्य भाव की अनेक भंगिमाएं इनमें प्राप्त होती हैं, यह भी एक प्रकार का यथार्थ है जो वैयक्तिक है, आत्मगत है। यह सही है कि कभी-कभी यह आंतरिक यथार्थ, बाह्य यथार्थ से आंख मिचौनी खेलता नजर आता है। और यही कारण है कि इन रचनाकारों में बाह्य का अभ्यांतरीकरण वैयक्तिक धरातल पर अधिक प्राप्त होता है। शायद यह बोध स्तर नारी मन के अधिक अनुकूल है, और उसके 'भाव-बंध' को अधिक प्रामाणिक रूप से प्रकट करता है। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि नारी मन सूक्ष्म भावस्तरों की ओर अधिक गतिशील होता है और आज की भारतीय सामाजिक स्थिति उसे इसी ओर ले जाती है। भाषिक स्तर पर भी यह सूक्ष्म-रूपाकार यदा कदा दिखाई देते हैं। इस संदर्भ में मैं मुख्य रूप से दो क्षेत्रों को लेना चाहूंगा—एक प्रेम, रहस्य के क्षेत्र को और दूसरे प्रकृति दृश्य चित्रों को जिनमें इन रचनाकारों की सृजनात्मकता का अनेक आयामी रूप प्राप्त होता है।

प्रणय और रहस्य का एक सापेक्ष सम्बन्ध है जो इन कवयित्रियों में प्राप्त होता है, पर इसके साथ ही साथ, प्रेम के धरातल पर पुरुष के प्रति एक नकारात्मक दृष्टि भी यदा कदा मिलती है। पुरुष की भोग वृत्ति तथा स्वार्थ की ओर खीझ का भाव है, जो नारी के मात्र भोग्या होने पर असंतोष है। प्रेमलता वर्मा की दृष्टि में पुरुष की प्रतिमा है—

पुरुष जो महज/स्त्री के ब्लाउज के बटनों को/ताकने के लिए पैदा होता है/तो सृजन का विचार/प्याज के छिलके की तरह अलग हो जाता है।

(जब मैं देखती हूं)

और अन्त में उसे बोध होता है कि 'मैं स्त्री नहीं हूं और वे पुरुष नहीं हैं।' मरुणा कपूर को यह लगता है कि पुरुष को "जिस्मों से मोहब्बत है" वह अदृश्य की गहराइयों में डूबती जा रही है (डूबते प्रश्न)। यही नहीं,

तो यहाँ तक लगता है कि सारा आक्रोश औरत के जिस्म पर उतारा जा रहा है—

आखिर नारी होकर/नारी होने को कब तक सहूं/आप ही न्याय करें हुजूर/जब समय का सारा आक्रोश/धारदार चाकू की नोक की तरह/औरत की जिस्म में उतारा जाता हो।

(जवाबदेही, नया प्रतीक, अप्रेल 1977)

इन कविताओं के द्वारा पुरुष द्वारा नारी शोषण के प्रति संकेत है जो एक ऐतिहासिक सत्य है, पर यह भी सत्य है कि नारी ने नारी को ही अधिक शोषित किया है (एक सीमित परिवेश में)। नारी का पुरुष के प्रति यह नकारात्मक मनोभाव, यथार्थ की दृष्टि से उचित है, पर आत्मगत दृष्टि से नारी "तुम पुरुष" के प्रति सदैव से आकर्षित होती रही है। 'तुम' का सारा बिम्ब पुरुष का निराकार स्वरूप ही है जो कवयित्रियों के संवेदनातंत्र को झकझोरता एवं आन्दोलित करता रहा है। यह 'रति' और काम का नित्य सत्य है जो नारी और पुरुष के अनादि संबंध को रेखांकित करता है। इसे नकारना शायद किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। इस सापेक्ष सम्बन्ध को मैं और तुम की सीमाओं में बांधा गया है और कभी कभी यह 'तुम' या 'वह' एक सत्ता के रूप में रहस्य-सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। इस सम्बन्ध में कहीं मिठास है, कहीं विक्षोभ है, कहीं नकार है, कहीं ललक है तो कहीं कुछ पाने और खोने की बात है। इन सारे सम्बन्ध सूत्रों में आत्मनिवेदन और अपनी अस्मिता की तलाश है। इस सम्बन्ध का एक मोहक चित्र है—

इधर दो दिन लगातार तुमसे मिलने के बाद लगा/कि हमारे अचानक बंधे सम्बन्धों में मीठी नरम घास उगने लगी है।

(इंदु जैन)

यही तुम "आत्मज" का रूप ग्रहण कर लेता है जिसकी आवाज "अतल गहराइयों" से आती है और उत्तराभाव में भी उसकी प्रतीक्षा करती है (स्नेहमयी-चौधरी)। इस संदर्भ में मैं अमृता भारती की लम्बी कविता "तनसा का फकीर दोस्त" का जिक्र करना चाहूंगा जो पश्यंती (1974) में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में तांत्रिक रहस्यभाव को पुरुष और प्रकृति के बिम्ब के द्वारा उभारा गया है। यहां वह या 'आत्मज' पुरुष का पर्याय है जिसमें 'मैं' का विलय होता है। यह कविता विचार के धरातल पर रचनात्मक संदर्भ प्राप्त करती है। कुछ पंक्तियां लें—

मैं उसके अन्दर होकर भी उसकी आंखें देख लेती हूं/उसकी
क्लांत दृष्टि के भीतर झांक लेती हूं। आज उसके दर्शन के सब
जगह मैं हूं/वह हर पल अद्भुत रस की रचना करता है। (आदि)

(पश्यंती (2) पृ. 46-48)

प्रेमलता वर्मा तथा शकुन्त माथुर की कविताओं में 'मैं' और 'तुम' का संबंध रहस्यभाव की ओर संकेत करता है और कभी-कभी यह 'भाव' प्रतीक्षा और बेचैनी की हद तक पहुंच जाता है। प्रेमलता वर्मा को लगता है कि 'तुम' एक बदबूदार गली के समान है जो कवि के फेफड़ों को भर रहा है—

मैंने समझा तुम/हो वह जो—बदबूदार गली की हवा थी।

पूर्ण विराम की तरह रोने के सिवा भी/दुःख की परिभाषाहीन परिभाषा है-कोई जिसमें मैं पूर्णविराम की तरह अन्तिम हो गयी हूं प्रतीक्षा/मैं।

(सुइयों का पैरहन, पृ. 32)

समकालीन कवयित्रियों का एक अन्य प्रिय क्षेत्र दृश्य या भावचित्र का संकेत है जो उनकी विभिन्न मनोदशाओं को व्यक्त करता है। इन चित्रों या बिम्बों में भाव या विचार की सघनता है और प्रभावान्विति केन्द्रीकृत है। शब्दयोजना भाव संकुलता को अधिक तीव्र करती है और प्रकृति के प्रति उनके रागात्मक सम्बन्ध को रेखांकित करती है। पतझर, बसंत, पहाड़, जल, नदी, ग्रीष्म और शिशिर आदि के जो भाव चित्र या बिम्ब प्राप्त होते हैं, वे व्यक्तिगत अनुभूतियों एवं मनोदशाओं को ही अधिक व्यक्त करते हैं, प्रकृति का जो भी चित्र स्वतन्त्र है, वह उसका पूरक है अथवा उन दोनों का एक सापेक्ष सम्बन्ध है। इन्दु जैन में पतझर का कुछ ऐसा ही चित्र है:

आ गया पतझार पत्ते झर गए सब

× × ×

बज रही टहनी, हवा में/हिल रहा पत्ता/उड़ा; टूटा, बरस से लग गए/गिर यहां आने में।

(चौसठ कविताएं, पृ. 16)

दूसरी ओर प्रेमलता वर्मा के लिए "दुपहर का सुनसान" पक्षियों के बोलने से और गहरा हो जाता है और सुधा गुप्ता के लिए "शरद की धूप" चिकना टुकड़ा है जो—

नर्म हथेलियों में/शरद की चिकनी धूप का टुकड़ा/बार-बार, मछली सा फिसल जाता है।

(अनचीन्हा परिवेश, पृ० 72)

यही एकाकीपन एवं सूनापन सुमन राजे को भी संध्या समय लगता है जब उनकी "गोदी में उदास शाम मुंह छिपा कर आ बैठती है और—

पर बाहर भीतर दोनों ओर/एक ही अन्धेरा/एक ही
सा धुंधला पाती हूं।"

समकालीन कवयित्रियों के संदर्भ में एक ऐसा और क्षेत्र है (पर सीमित) जो उनके भावबोध को आन्दोलित करता रहा है, वह क्षेत्र है दिक् और काल का। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि काल (कुछ सीमा तक दिक् भी) के प्रति आत्मगत सवेदन ही अधिक है या उसकी निरन्तरता एवं चक्राकार स्थिति को ही प्रकट किया गया है। दिक् और काल विराट हैं, पर इनका अस्तित्व 'भावना' से जुड़ने पर ही होता है—

दिक् है, काल है/माना बहुत बड़ा है/मैंने भावना से जो कुछ जोड़ा है/ मैं कुछ कह सकता हू/इतना मह सब मेरा है।'

(शकुन्त माथुर)

इन पंक्तियों में काल दिक् अभ्यांतरिक है जो आइस्टाइन के सापेक्षवाद सिद्धांत के द्वारा भी मान्य है। भौतिकी एवं गणित की दृष्टि से दिक्काल सापेक्ष है, और उनका अस्तित्व 'दृष्टा' की सापेक्षता में है। काल एक आयामिक है (लम्बाई) जो गतिशील है, चक्राकार है (भारतीय दृष्टि से), पर वैज्ञानिक दृष्टि से वह रेखीय है, पर गतिशीलता दोनों में है। अतीत, भविष्य और वर्तमान उसके खण्ड हैं जो समय या काल को 'गति' को निरन्तरता प्रदान करते हैं। पल या क्षण भी काल की निरन्तरता और गतिशीलता को व्यक्त करते हैं। इन्दु जैन ने 'काल' को 'पल' के माध्यम से पकड़ने का प्रयत्न किया है क्योंकि प्रत्येक पल की अर्थवत्ता 'अनंतता' की सापेक्षता में है। (नेचर आफ यूनीवर्स, फ्रेड हॉयल, पृ. 25)

बीते पल सरकते रहे जो/जो नहीं हम पकड़ पाते हैं/जिन्हें हम और भी जल्दी बिताते है/कि आगे और कुछ पल/हाथ लग जाएं।

(चौसठ कविताएं, पृ. 18)

अतीत, वर्तमान और भविष्य एक सूत्र में बंधे हैं, पर वर्तमान की विडम्बना यह होती है कि वह 'विष' बन जाया करता है जो आज का संदर्भ है।

उजड़े हुए अतीत के/उड़ते हुए भविष्य की प्रत्याशा में हर वर्तमान/यूं ही विष हो जाया करता है। (प्रेमलता वर्मा)

यहां पर मैंने दिक् काल का जो सन्दर्भ लिया है, वह प्रत्यय या धारणा का एक रचनात्मक संदर्भ है, इसका क्षेत्र व्यापक है।' पर कवियित्रियों ने इसे कम ही स्पर्श किया है। यह तभी सम्भव है जब रचनाकार ज्ञान के क्षेत्रों को संवेदना के धरातल पर रचनात्मक संदर्भ दे सके, उन्हें अपनी सम्वेदना में रूपांतरित कर सके।

मुक्तिबोध, निराला, प्रसाद, विनय, बलदेव वंशी तथा कुमार विमल ने न्यूनाधिक रूप से इस वैचारिक प्रत्ययात्मक रचनात्मकता को व्यक्त किया है। मुझे लगता है कि कवयित्रियों का विचार तन्त्र अभी इतना सशक्त एवं पैना नहीं है जो इस मांग को पूरा कर सके। यह तो भविष्य ही बतायेगा कि नारी कहां तक इस मांग को पूरा कर सकती है। अन्त में इन्दिरा परमार के शब्दों में कहूं तो कविता को "गांधारी" होने से बचाना आवश्यक है—

कविता को गांधारी होने से बचाओ।
मत बांधो उसकी आंखों पर पट्टियां।

(मधुमती, नवम्बर 78)

यह तभी सम्भव है जब रचनाकार की रचना दृष्टि व्यापक हो, बहुआयामी हो, काल को भेदने वाली हो और "जो है" उसे मूल्यगत अर्थवत्ता प्रदान करने वाली हो। 'रचना दृष्टि' इसी से व्यक्तिगत होते हुए भी एक समष्टिगत ब्रह्मांडीय दृष्टि है।

कविता में दिक्-काल बोध-एक 'दृष्टि'

"विचार" एक व्यापक प्रत्यय है जो मतों, सिद्धान्तों और प्रत्ययों पर 'संतरण' कर एक ऐसी रचनात्मक दृष्टि का सृजन करता है जो कविता और कला के लिए ही नहीं, पर अन्य मानवीय क्रियाओं के लिए भी एक आवश्यक तत्व है। दिक् और काल ऐसे प्रत्यय हैं जिनसे रचनाकार किसी न किसी स्तर पर 'टकराता' है, और दिक् काल बोध को अनुभव और संवेदना के धरातल पर रूपान्तरित करता है। दिक् और काल विराट सापेक्ष प्रत्यय हैं जो विज्ञान, धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र और साहित्य में किसी न किसी रूप में अनुभव और प्रातिभज्ञान के क्षेत्रों को आन्दोलित करते रहे हैं। दिक् और काल के दो स्तर हैं जो एक दूसरे के पूरक है—एक घटनाओं, पलों, क्षणों की निरन्तरता का स्तर और दूसरे इनसे परे का वह स्तर जो भौतिक और ऐंद्रिय बोध को अतिक्रांत करती है। इसे एक व्यापक संदर्भ में अनंत बोध भी कह सकते हैं जिसे रचनाकार मानसिक, ब्रह्माण्डीय एवं परामानसिक अनुभव क्षेत्रों के द्वारा अनुभूत करता है। इसे और भी व्यापक अर्थ में कहें तो कला बोध और दिक् काल बोध की एक ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति है जिनमें रचनाकार अपने को "एसर्ट" करता है। यहां पर "एसर्ट" करने की जो बात कही गई है, वह रचनाकार की नियति है, उसका धर्म है। रचनाकार ससीम है, और दिक् काल का चतुर्आयामी विस्तार (दिक् के तीन आयाम और काल का एक आयाम) उसे विराट की ओर ले जाता है। इस विराट में भौतिक एवं पराभौतिक दोनों स्थितियां समाहित हैं। यही कारण है कि रचनाकार भौतिक घटनाओं और वस्तुओं के द्वारा कभी कभी दिक् काल की विराटता को संकेतिक करता है। यह कार्य मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी घटित होता है जब हम विचार, भाव और संवेदना की गहनता को दिक् की विराटता में जाते हैं। उस समय दूरियां, गति, वेग, कंपन और आवेग सिमटकर एक विराट शून्य दिक् काल का साक्षात्कार करते हैं। आइन्स्टाइन ने एक स्थान पर कहा है कि यह 'विराट' की रहस्य अनुभूति ही मानव को 'मानव' बनाती है जो उसे लगातार अन्वेषण की ओर अग्रसर करती है। यह रहस्य और जिज्ञासा अन्वेषण प्रक्रिया का प्रेरक तत्व है जिसके द्वारा 'ज्ञान' गतिशील होता है। इसे मैं दो उदाहरणों से पुष्ट करना चाहूंगा। एक उदाहरण दिनकर की उर्वशी से लेना चाहूंगा

जहां दिक् काल की सापेक्षता के द्वारा कवि 'महाशून्य' की विराटता का संकेत करता है—

महाशून्य के अन्तर-गृह में, उस अद्वैत भवन में,
जहां पहुंच दिक्काल एक है, कोई भेद नहीं है।

दूसरा उदाहरण मिल्टन के 'पेराडाइज लॉस्ट' का है जहां विश्व के विस्तार को दिक् के विस्तार में आबद्ध किया गया है—

(दस फॉर इक्सटेंट, दस फार दाइ बाउण्ड्स,
दस वि दाई जस्ट सरकमफ्रेंस, ओ वर्ल्ड !)

"हे विश्व ! इतनी दूर तक विस्तृत, और इतनी दूर तक तेरा परिसीमन, सत्य मे, ये तेरी यथार्थ परिधि है।"

सापेक्षता के सिद्धान्त में दिक् काल असीम होते हुए भी परिमित हैं; सापेक्ष है—यह कथन एक ऐसा तात्विक रूप है जो विराट की संकल्पना को प्रक्षेपित करता है। दिनकर, प्रसाद और मिल्टन आदि अनेक ऐसे कवि हैं जिन्होंने रचना के स्तर पर दिक् काल की अखंडता को विविध रूपाकारों के द्वारा व्यक्त किया है। यही नहीं, जब कबीर यह कहते हैं कि 'घट में खेले अघट अपार' तो वे दूसरे स्तर पर विराट दिक् की अनुभूति करते हैं।

रचनाकार काल और दिक् की घटनाओं के अनुक्रम के द्वारा अनुभव करता है क्योंकि दिक् का अनुभव घटनाओं के क्रम से होता है और काल का अनुभव घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध से होता है जो अतीत, वर्तमान और भविष्य का एक गत्यात्मक क्रम है। काल गत्यात्मक है और घटनाएं इस गत्यात्मकता पर आई हुई स्थितियां है। यही कारण है कि रचनाकार स्थितियों, घटनाओं और अनुक्रमों को काल और दिक् की सापेक्षता में अनुभव करता है जो उसके बोध को अनेक स्तरों पर आंदोलित करती है। रचनाकार काल के वर्तमान खण्ड पर खड़ा होकर, यथार्थ को पकड़ने का प्रयत्न करता है। यह यथार्थ दिक्काल दर्शन का एक ऐसा प्रत्यय है, जो मात्र भौतिक नहीं है पर भौतिकता और तात्विकता की एक द्वन्द्वात्मक स्थिति है जो रचनाकार के द्वारा संगति और संश्लेषण की ओर अग्रसर होती है। इसी दिक् काल की प्रतीति को व्यक्त करने के लिए रचनाकार 'भाषा' के प्रतीकों का प्रयोग करता है जो काल और दिक् की गत्यात्मकता को अपनी ससीमता मे भी पकड़ सके। दिक् काल की इस संकल्पना में मानव की महान विचारणा-शक्ति निहित है। रचनाकार के संदर्भ में इन संकल्पनाओं का एक अपना विशेष महत्व है, क्योंकि वर्तमान एक ऐसा 'प्रतीति बिन्दु' है जो दिक् की सापेक्ष स्थिति के साथ 'बोध' के स्तर को एक ऐसा रूप देता है जो भाषिक रूपाकारों के द्वारा व्यक्त होता है। इस यथार्थ तात्कालिक 'प्रतिति बिन्दु' पर भूत, स्मृति-बिम्बों और प्रत्ययों के रूप में

वर्तमान रहता है और अनागत के प्रति एक संभावना की सृष्टि रखता है। यह संभावना एक ऐसा तत्व है जो कविता और कला को नित नयी सम्भावनाओं की खोज-प्रक्रिया की ओर अग्रसर करता है। यह प्रतीतिबिन्दु' आगत और अनागत के बीच संचरण करता है, और इस दृष्टि से रचनाकार काल और दिक् के ऐतिहासिक क्रम को आत्मसात् करता है।

सृजन की दृष्टि से दिक् और काल का अस्तित्व 'मैं' की सापेक्षता में है। इस 'मैं' का सम्बन्ध देश और काल की श्रेणियों में होता है। इस सम्बन्ध में 'तुम', 'वस्तु', 'यथार्थ', घटना और स्थितियां सभी आ जाती हैं, और इस दृष्टि से मैं, 'तुम' और वस्तु आदि में कोई भेद नहीं रह जाता है, पर सृजन के स्तर पर 'मैं' जितना ही 'तटस्थ' होगा, उसकी अनुभूति उतनी ही प्रमाणिक होगी। सम्बन्धों का तनाव, स्थितियों की टकराहट तथा वस्तुओं का विश्लेषीकरण—ये सभी तत्व दिक् और काल के भौतिक आयामों में ही घटित होते हैं। यह मैं ही हूं जो दिक् और काल का अनुभव करता हूं और भाषा के स्तर पर अपने अनुभव को रूपायित करता हूं। आइन्स्टाइन के शब्दों में कहें तो "दिक् काल अन्तर्ज्ञान के रूप हैं, जिन्हें चेतना से अलग नहीं किया जा सकता है"—यह कथन विज्ञान, दर्शन, धर्म के लिए जितना सत्य है, उससे भी अधिक साहित्य और कला के लिए। इस प्रकार रचनाकार संसार और ब्रह्माण्ड की विराटता का सापेक्ष अनुभव करता है—और यह अनुभव मात्र भौतिक या लौकिक न होकर एक व्यापक ब्रह्माण्डीय एवं तात्विक बोध की अपेक्षा रखता है।

सम्भावनाओं को तलाशती ,समकालीन कविता

समकालीन कविता के संदर्भ में एक बात जो स्पष्ट नजर आ रही है, वह है "काल" की अवधारणा के प्रति एक ऐसी दृष्टि जो यह मानकर चलती है कि 'जो घटित हो रहा है' या 'जो वर्तमान है'—वही "काल" है जो 'काल' शब्द के व्यापक अर्थ को सीमित कर देता है और कविता को 'काल' के एक खण्ड 'वर्तमान' तक सीमित कर कविता की व्यापक संभावना पर एक प्रश्न चिन्ह लगा देता है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि समकालीन कविता वर्तमान से अत्यन्त संयुक्त होने के कारण एक आयामिक (वन डाइमेन्शनल) होती जा रही है और इसका फल यह हो रहा है कि कथ्य की दृष्टि से उसमें विविधता का अभाव भी उभरने लगा है। इससे कविता (तथा अन्य विधाएं भी) की भावी सम्भावना अवरुद्ध होने लग जाती है और उसकी अनेक आयामिक गतिशीलता में बाधा आने लगती है। यदि गहराई से देखा जाऐ तो मार्क्सवादी और वामपंथी विचारधारा के अत्यधिक आग्रह के कारण समकालीन कविता एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में एक आयामिक होती जा रही है। यहां मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मार्क्सवाद का प्रभाव दूषित है या व्यर्थ है अथवा वामपंथ का कोई सामाजिक महत्व नहीं है पर यह भी सत्य है कि किसी मत या विचारधारा से अत्यधिक प्रतिबद्ध हो जाना और उसे ही एक मात्र जीवन सत्य के रूप में स्वीकार करना, किसी भी रचनाकार के लिए, उसकी सर्जनात्मकता के लिए और साथ ही उसकी रचना दृष्टि के क्रमिक विकास के लिए एक बाधा ही है। इसका फल यह होता है कि 'कथ्य' की अत्यधिक 'पुनरावृत्ति' होने लगती है और भाषिक स्तर पर एक ही प्रकार के 'मुहावरे' का सृजन होने लगता है। आज की कविता में आक्रमणकारी भाषा का एक ऐसा तेवर प्राप्त होता है जो तेज तर्रार आदिम बर्बरता को प्रकट कर रही है जिसे कुछ लोग 'गुरिल्ला' कविता भी कहते हैं। 'गुरिल्ला' शब्द एक आयातित शब्द है और इस शब्द का प्रचलन जिस अर्थ में साम्यवादी देशों (क्यूबा, चीन आदि) में प्राप्त होता है, उसे उसी भारतीय वातावरण में कैसे 'फिट' कर सकते हैं? यही बात अ

और अवधारणाओं (जैसे अलगाव, तनाव और अस्तित्व का संकट) के बारे में भी कही जा सकती है। असल में विभिन्न विचारधाओं और मतों के मध्य रचनाकार को 'संतरण' कर, एक सृजनात्मक 'दृष्टि' का विकास अपने 'धरातल' पर करना अपेक्षित है। समकालीन संदर्भ में निराला और मुक्तिबोध की प्रासंगिकता को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है क्योंकि ज्ञान और संवेदना का एक मिथित रचनात्मक संदर्भ इन दोनों कवियों में प्राप्त होता है (प्रसाद में भी इसे देखा जा सकता है)। यह स्थिति कुछ समकालीन रचनाओं में भी प्राप्त होती है जैसे धूमिल की 'पटकथा' में, जगूड़ी की 'इस व्यवस्था में, रामदेव आचार्य की 'महाभियोग' में, विनय की 'एक पुरुष और' में तथा बलदेव वंशी के 'आत्मदान' में जिनमें आक्रोश, अस्तित्व-बोध को इतिहास तथा विज्ञान-बोध को रचनात्मक धरातल पर व्यंजित किया गया है। ज्ञान के इस संवेदनात्मक रूपांतरण को दृष्टि में रखकर मुक्तिबोध और विनय की काव्य पंक्तियों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। मुक्तिबोध की निम्न पंक्तियों में वर्णित भौतिकी दर्शन का सहारा लेकर 'जीवन-सत्य' को प्रस्तुत किया गया है—

हमें था चाहिए कुछ यह—
कि जो गंभीर ज्योतिशास्त्र रच डाले
नया दिक्काल-थियोरम बन
प्रकट हो भव्य सामान्यीकरण
× × ×
कि उससे एक गहरा फलसफा
तैयार हो जाए—
कि पूरा सत्य,
जीवन के विविध उलझे प्रसंगों में
सहज ही दौड़ता आए।

—नक्षत्र खण्ड

दूसरी ओर समकालीन कवियों की रचना-प्रक्रिया में 'विचार' का क्रियात्मक रूप प्राप्त होता है। पर इस प्रक्रिया में वैचारिक मंथन का कम, आक्रोश और आवेश का अधिक तीखा स्वर देखने को मिलता है। डा० विनय के 'एक पुरुष और' तथा बलदेव वंशी के 'आत्मदान' में (और भी उदाहरण लिए जा सकते हैं) वैचारिक मंथन का जो रूप प्राप्त होता है, उसमें आवेश का संयमित रूप तथा ज्ञान-क्षेत्रों (इतिहास और विकास) की समझ का एक रचनात्मक संदर्भ प्राप्त होता है—

इतिहास कोई देवता नहीं
अदृश्य अपरिचित

वह मनुष्य भी नहीं
जो मर जायगा एक दिन
उसकी धमनियों में पैदा होता है विकास
उसे जीना पड़ता है
सैकड़ों सांसों में।

—एक पुरुष और, पृष्ठ 22

'एक पुरुष और' में जो वैचारिक मंथन की गहराई है, वह विनय के अन्य काव्य-ग्रन्थ 'पुनर्वास का दण्ड' में अप्राप्य है। विचार और ज्ञान का यह क्षेत्र समकालीन कविता की एक ऐसी संभावना है जो उसे एक नया आयाम दे सकती है। विचार और विरोध (यथार्थ) में एक संतुलन की आवश्यकता है क्योंकि बगैर वैचारिक 'ताप' और 'ऊर्जा' के कोई भी 'विरोध-दर्शन' बेमानी और क्रियाहीन होता है।

समकालीन कविता में विरोध, व्यंग्य, तोड़फोड़ और आवेशजनित नकारात्मक स्वर प्रमुख है जो मतवादों और आग्रहों के कारण अपनी 'अर्थवत्ता' को धूमिल करता जा रहा है। यह प्रवृत्ति इतनी 'हावी' हो गयी है कि कविता में सार्थक 'संवाद' की (जो अपनी जमीन से सम्बन्धित हो) गुंजाइश ही कम होती जा रही है। पत्र-पत्रिकाओं मे ऐसी कविताओं का एक ज्वार सा आ गया है। उदाहरणस्वरूप विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की निम्न पंक्तियां ली जा सकती हैं जिसमें मूल्यवत्ता और कविता की नकारात्मक 'अर्थवत्ता' दी गई है।

गदभों के आगे मूलिया हिला हिला कर
मूल्यवत्ता सिद्ध करते करते,
पैगम्बर भूल गए कि आदमी
गैस-गुब्बारों का अटूट सिलसिला है
इस नियम का अपवाद नहीं है
कविता ! गैस है जो गिल्टियों
के पिघलने से बनती है।

—मानवबोध, दीर्घा

यहां पर यह प्रश्न उभर कर आता है कि नकार और विरोध की 'अर्थवत्ता' किस रूप में सार्थक मानी जा सकती है ? 'नकार' उसी समय 'अर्थवत्ता' प्राप्त करता है जब वह सांकेतिक रूप में कोई सकारात्मक 'अर्थवत्ता' की व्यंजना कर जाए। नकार और विरोध उसी समय सार्थक होता है जब उसके द्वारा हमें आंतरिक शक्ति प्राप्त हो। मुक्तिबोध की कविता के नकार और 'टूटन' का बोध आंतरिकशक्ति को प्रदीप्त करता है अतः ऊपर से आरोपित मान्यताएं, संज्ञाएं और शब्द

रचनाकार को और उसकी सर्जना को एक सीमा तक कुंठित कर देती है। केवल शब्द प्रयोग तक सीमित रचना की क्या सम्भावना है, यह कुमार विमल की इन पंक्तियों से प्रकट होता है -

हमें शब्द का 'प्रयोक्ता' नहीं
क्रियाओं का 'कर्त्ता' बनना है--
ओ शब्दकार !
तथाकथित कालजयी शब्द-शिल्पी !
केवल शब्द तक सीमित रचना
एक वंचना है !!

—दस्तावेज- 1, पृ. 17

समकालीन कविता में इधर एक अन्य संभावना नजर आ रही है। जो मिथकीय रूपांतरण को अर्थवत्ता प्रदान कर रही है। यह प्रवृत्ति नही नयी कविता का एक प्रमुख स्वर था और काफी समय तक यह स्वर धूमिल रहा। इधर कुछ वर्षों से ऐसी कृतियां और कविताएं सामने आई हैं जो इस प्रवृत्ति को एक स्वस्थ संभावना का रूप दे रही हैं। जिसका वैचारिक और संवेदनात्मक स्वरूप नयी कविता में विकसित हुआ था। मिथकीय चरित्रों और घटनाओं का यह रचनात्मक रूपांतरण अनेक समकालीन कवियों में प्राप्त होता है जो सर्जना को एक नया आयाम दे सकता है। मिथ किसी भी जाति के जीवित स्वप्न होते हैं और उनमें एक ऐसी लोच शक्ति होती है जो उन्हें काल की सापेक्षता में नया अर्थ-स्वरूपान्तरण प्रदान करती है। इस दृष्टि से रामदेव आचार्य की एक पौराणिक वेदना "समर संकल्प" आदि रचनाएं, विनय की 'एक पुरुष और', बलदेव वंशी की 'आत्मदान' तथा जगदीश चतुर्वेदी का 'सूर्यपुत्र' आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने मिथकीय संदर्भ (चरित्र तथा घटना) के द्वारा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विरोध, आक्रोश, व्यंग्य, व्यक्ति की अस्मिता और इतिहास की द्वन्द्वात्मकता को व्यंजित किया गया है। उदाहरण-स्वरूप रामदेव आचार्य की इतिहास की पुनर्रचना कविता में कृष्ण का राधा के प्रति जो सम्बोधन है, वह रोमांटिक मनोभाव से आरम्भ होकर शोषण और विद्रोह की भावनाओं को समेटते [illegible] राधा के विरह को एक नया आयाम देता है।

राधे !
आंसू अगर इतिहास बन सके
आदमी अगर एहसास बन सके
तो अपने विरह को विद्रोह बन
जाने दो !
राधे !
एक इतिहास की पुनर्रचना का

समय आ रहा है।

महाभारत—

इतिहास की अनिवार्यता

बनता जा रहा है'।

इस कविता को पढ़ने पर बरबस मेरा ध्यान धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' की ओर जाता है जो रूमानियत और चिंतन को एक व्यापक ब्रह्मांडीय फलक प्रदान करती है, जबकि 'इतिहास' की पुनर्रचना अपेक्षाकृत सीमित फलक को प्रस्तुत करती है और इतिहास की क्रांतिकारी चेतना को प्रकट करती है अतः समकालीन कविता मिथक चेतना की ओर व्यापक वैचारिक संदर्भ दे सकती है क्योंकि उपर्युक्त कवियों में इसकी संभावना (औरों में भी है) स्पष्ट लक्षित होती है।

इधर एक अन्य प्रवृत्ति की संभावना स्पष्ट होती जा रही है (या हो गयी है) जो क्रमशः कविता को 'सपाट बयानी' से 'बारीक बयानी' की ओर उन्मुख कर रही है। इसका सुन्दर विकास—'नवगीत' और गज़ल में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह प्रवृत्ति आज की कविता में भी यदा कदा देखी जा सकती है। यदि गहराई से देखा जाए तो गीत और गज़ल का पारम्परिक रूप समकालीन कविता में नये बोध स्तरों का उद्‌घाटन कर रहा है जिसमें यथार्थ का दर्शन रागात्मक भाव-भूमि के साथ व्यंजित हुआ है और यह व्यंजना कोमल मुलायम रूपाकारों की अपेक्षा खुरदरे और तिक्त रूपाकारों की ओर अधिक गतिशील है। दुष्यंतकुमार, सूर्यभानु, गुप्त आदि जैसे गज़लकार, गज़ल को हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल ढाल रहे हैं तो दूसरी ओर श्री हर्ष, वेणु गोपाल, रवीन्द्रकुमार, नईम और कृष्ण कल्पित जैसे गीत-कार गीत को नया संस्कार दे रहे हैं। इन विधाओं का एक सार्थक सम्बन्ध आज की बौधिक-संवेदना से होता जा रहा है। उदाहरणस्वरूप उभरते हुए गीतकार कृष्णकल्पित की निम्न पंक्तियां ली जा सकती हैं-

खाली पीपे सा जीवन बंधु,

खटरपटर बजता है।

हांफती हवाओं का, ओर छोर बूझें हम

आज जी भरके, खुद से ही जूझें हम,

आदमी टूटता बिखरता है

नशा जब उतरता है।

उपर्युक्त कुछ संभावनाओं के प्रकाश में समकालीन कविता की दशा और दिशा का एक चित्र सामने आता है और साथ ही कविता की भावी गतिशीलता का आभास भी मुखर होता है।

मिथकीय विवेचना का सैद्धांतिक स्वरूप

साहित्य और कला में मिथकों का प्रयोग और उनका विवेचन एक ऐसा सत्य है जो प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में प्राप्त होता रहा है जो मिथक को एक "जीवित स्वप्न" और सांस्कृतिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग बनाता रहा है। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मिथक मूलतः सृजनात्मक होते हैं और केवल आदिम एवं प्राचीन ही नहीं होते हैं, पर नवीन ज्ञान और संवेदना के प्रकाश में नये मिथकों का सृजन भी होता है। इस प्रकार इतिहास, विज्ञान और सामाजिक विज्ञानों के विकास के साथ आधुनिक मिथकों का अस्तित्व एक सत्य है जो मिथक की गत्यात्मकता का सूचक है। इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में साहित्य और मिथक का एक गहरा सम्बन्ध है और इसकी प्रयोगात्मक व्यापकता के कारण यह आवश्यक है कि मिथकीय आलोचना के मानदण्डों और प्रतिमानों की छानबीन की जाए।

जैसा कि ऊपर कहा गया कि साहित्य में मिथक का प्रयोग और उसकी अर्थवत्ता इस बात में समाहित है कि मिथक का संदर्भ सृजनात्मक होता है जहां तक साहित्य का प्रश्न है। इसका आशय यह हुआ कि मिथक की मूल प्रवृत्ति 'सृजनात्मक है और साहित्य में भी यह तत्व सर्वोपरि है, अतः मिथक का जो भी अर्थ रूपांतरण परिवेश और युग-बोध के अनुसार हो, वह सृजनात्मकता की मांग को पूरा करता हो। यहां पर "सृजनात्मकता" एक व्यापक प्रत्यय है जो मात्र भावात्मक नहीं है, पर वह विचारात्मक एवं अवधारणात्मक दबावों को भी अपने अन्दर समेटता हुआ चलता है। साहित्य अथवा कला में कोई भी वस्तु विजातीय या परायी नहीं होती है, चाहे वह मिथक हो, विज्ञान, धर्म या दर्शन हो—सबका वहां पर एक रचनात्मक संदर्भ होता है। मिथक की यह रचनात्मक अर्थवत्ता उसे कला और साहित्य के क्षेत्र में ऐसा सार्वकालिक स्वरूप प्रदान करती है जो मिथक की "लोचशक्ति" का परिचायक है। यही कारण है कि मिथक जाति के अवचेतन में गहरे पैठे रहते हैं और पुनः पुनः अपने अभिप्रायों तथा आदिरूपों (आरिकी टाइप्स) के साथ अवतरित और व्याख्यायित होते हैं। मिथकीय समीक्षा (विवेचना) का यह सबसे महत्वपूर्ण तत्व है जिसके द्वारा मिथक के प्रतीकों, अभिप्रायों तथा आदिरूपों की व्याख्या प्रस्तुत की

जा सकती है । इस व्याख्या के द्वारा मिथक विशेष की प्रासंगिता को भी रेखांकित किया जा सकता है क्योंकि मिथक तो केवल एक 'माध्यम' है जिसके द्वारा रचनाकार युग-संदर्भ को, वोध और संवेदना के धरातल पर रूपांतरित करता है । प्राचीन काल से लेकर आज तक साहित्य तथा कला में यह मिथकीय रूपांतरण होता रहा है जो विभिन्न स्तरों पर चरितार्थ हुआ है, कभी धार्मिक मनोभावों के दवाव मे तो कभी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक दवावों मे । रचनाकार पर ये "दबाव" उसकी रचना दृष्टि पर आधारित है कि वह किस सीमा तथा मात्रा तक उन दवावों के द्वारा मानवीय अर्थवत्ता को वैचारिकता और संवेदनशीलता को रचनात्मक संदर्भ दे सका है । मध्यकाल मे मिथकों का प्रयोग धार्मिक एवं दार्शनिक धरातलों पर अधिक हुआ और वह इस सीमा तक कि मिथक वहां पर साधना और आराधना का माध्यम बना । सन्तों तथा भक्तों ने मिथक की प्रतिबद्धता को इस सीमा तक स्वीकार किया कि वह उनकी "अस्मिता" का अभिन्न अंग बन गया । मिथकीय विवेचना का यह दायित्व है कि वह मिथकीय रूपांतरण की इस 'रचना-दृष्टि' को ध्यान में रखकर मिथक का जो "अर्थ-स्तर" है (जो युग सापेक्ष होता है) उसे रेखांकित करे । यह एक तथ्य है कि मिथक के अनेक अर्थ-स्तर' होते हैं जो रचनाकार के 'वोध' के द्वारा प्रक्षेपित होते हैं । ये अर्थ-स्तर वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, ब्रह्माण्डीय तथा पारिलौकिक हो सकते है, और मिथकीय समीक्षा या विवेचना इन अर्थ-स्तरो की खोज करती है ।

मिथकीय रूपांतरण और मिथकीय समीक्षा का अन्योन्य सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध इस बात पर आधारित है कि विवेचना के द्वारा यथार्थ के दंश को और दूसरी ओर विविध "वैचारिक आयामो" को मिथक की रचनात्मकता कहां तक एक संगति और एक सूत्रता में बांध सकी है, इसका विश्लेपण मिथकीय समीक्षा का महत्वपूर्ण तत्व है । इस प्रकार मिथकीय समीक्षा एक ऐसी यथार्थ-दृष्टि है जिसमे वास्तविकता, वैचारिकता और आंतरिकता का समन्वित रूप होता है जो मिथकी रचना के अर्थ-स्तर को उद्घाटित करता है । मिथक रचना के इस अर्थ-स्तर के दो समानान्तर तत्व हैं । एक तत्व है मिथक की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, मानव-शास्त्रीय, भाषिक (रूपकात्मक) और ब्रह्मांडीय तात्विक व्याख्याएं जो समष्टि रूप से मिथक की वहुआयामी अर्थवत्ता को प्रकट करती है । दूसरा तत्व है किसी भी मिथ का "सारतत्व" (एसेंस) जो मिथक का केन्द्रीय तत्व है तथा जातीय अवचेतन से गहरा सम्वन्धित रहता है । ये दोनो तत्व मिथकीय समीक्षा के अर्थ-स्तर को उद्घाटित करते है और साथ ही सृजनात्मकता के पक्ष को उजागर करते हैं । यहां पर एक तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक-सामाजिक आदि व्याख्यायें मिथक को समझने के 'माध्यम' मात्र है न कि अपने मे साध्य ।

आदिरूप या आरकिटाइप, महामाता का बिम्ब, हीरो की सांस्कृतिक प्रक्रिया, सृष्टि रचना तथा इस प्रकार के अनेक मिथकों की उपयुक्त व्याख्याओं के प्रकार में विवेचित किया जाता है, पर कोई एक व्याख्या अपने में पूर्ण नहीं है। मिथक की समग्रता का बोध एक समष्टि तात्विक दृष्टि की अपेक्षा रखतो है जो विभिन्न व्याख्याओं की एक समष्टि 'दृष्टि' है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रचनाकार ने मिथक को जो अर्थ रूपांतरण दिया है, वह कहां तक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, दार्शनिक एवं भाषिक व्याख्याओं से प्रभावित है. इसकी छानबीन आवश्यक है जो रचना के मार्ग से गुजर कर अन्वेषित की जानी चाहिये। रचना (मिथक) पर इनका आरोपण इस सीमा तक न हो कि रचना एक सैद्धांतिक उहापोह का एक रंगस्थल मात्र बनकर रह जाए। जहां तक 'सारतत्व' का प्रश्न है, उसकी अर्थवत्ता को सुरक्षित रखना आवश्यक है क्योंकि अक्सर रचनाकारों के द्वारा यह देखा जाता है कि वह कभी-कभी मिथक को विकृत कर देते हैं, पात्रों तथा घटनाओं के प्रति अन्याय कर जाते हैं। मिथक एक "फ्रेमवर्क" है जिसके अन्दर रचनाकार सामयिक प्रश्नों और समस्याओं का सांकेतिक विवेचन करता है, वह भी बोध और संवेदना के स्तर पर।

इसी संदर्भ में मिथकीय विवेचना के एक अन्य तत्व आदिरूप की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है क्योंकि इन आदिरूपों, प्रतीकों और रूपाकारों का प्रयोग मिथकीय रूपांतरण में होता है। ये 'आदिरूप' प्राचीन एवं नवीन दोनों प्रकार के होते हैं। आदिरूप 'सामूहिक अचेतन के ऐसे तत्व हैं जो अग्राह्य और दमित तत्वों के एकत्र होने पर "जटिलताओं" को उत्पन्न करते हैं, और ये ही जटिलताएँ आदिरूपों का सृजन करती हैं जो मनस् (साइकी) के प्रमुख प्रेरक तत्व है (माडर्न साइकोलॉजी, डेविड कावस, पृ. 114)। ये आदिरूप अपना संदर्भ बदल कर आ सकते हैं क्योंकि आज के तनावपूर्ण जीवन में इनका अस्तित्व उतना ही सत्य है जितना आदि या प्राचीन काल में था। ये आरकिटाइप्स या आदिरूप केवल मनस् ऊर्जा के स्रोत ही नहीं हैं, पर वे बाह्य जगत के परिज्ञान और बोध के भी स्रोत हैं। ये आदिरूप स्वयं ही प्रक्षेपित होते हैं और ऐतिहासिक प्रक्रिया में सदैव घटित होते हैं। ऐसे आदिरूप हैं—अनीमा (काम-पुरुष), अनीमस (रति-नारी), राक्षस, शैतान, हीरो, वृत्त, गोलक, प्रकाश, अंधकार, स्वर्ग, धरती, ब्रह्मराक्षस, असुर, देवगण तथा इसी प्रकार के अनेक आदिरूप जो कला और साहित्य में विविध अर्थ-बोध देते रहे हैं। यदि गहराई से देखा जाय तो रचनाकार इन प्रतीकों और मिथकों के द्वारा अपने युगबोध का "बिम्ब" ही प्रस्तुत करता है। समकालीन मिथक प्रयोग में यह संदर्भ व्यंजनात्मक रूप में प्रकट होता है। डा. विनय के खण्डकाव्य "एक पुरुष और" में, बलदेव वंशी के काव्य "आत्मदान" में, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की 'कबंध'

कविता में, मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' कविता में, नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर आधारित उपन्यासों में तथा इस प्रकार की अनेक रचनाओं में "आदिरूपों" का प्रयोग किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। इस संदर्भ में डा. विनय के काव्य "एक पुरुष और" से एक उदाहरण देना चाहूंगा जिसमें वृत्त, गोलक या कुंडल' मिथकीय कल्पना में आदि सृष्टि तत्व है जिससे विलोमों की सृष्टि होती है, और इस प्रकार द्वन्द्व का आरम्भ होता है। (ओरजिन एण्ड हिस्ट्री ऑफ कान्शेसनेस, न्यूमान) वृत्त या गोलक के इस आदिरूप को कवि ने इस प्रकार रचनात्मक संदर्भ दिया है—

"एक सर्पाकार कुण्डल
धीरे से खुल रहा था हवाओं में
और एक आरम्भ,
द्वन्द्व को शक्ल देता हुआ,
विभाजित हो रहा था,
अपने ही खण्ड में।"

इसी प्रकार विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने 'कबंध' आदिरूप (चरित्र) के द्वारा आज के संघर्षरत व्यक्ति की बेचैनी को व्यक्त किया है—

मेरा कबंध उठ खड़ा हुआ है—
कटे सिर वाले धड़, धाय धाय करने लगे हैं,
समय का रंग सुर्ख हो गया है
अब हम आमने सामने हैं
यह एक अच्छी शुरुआत है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मिथकीय विवेचना आदिरूपों, चरित्रों, घटनाओं और प्रसंगों के युगीन अर्थ-रूपांतरण को रेखांकित करें और साथ ही उन मिथकीय तत्वों को एक सांस्कृतिक संदर्भ में व्याख्यायित करें। केवल अर्थ-रूपांतरण को रेखांकित करना मिथकीय विवेचना का एक तत्व तो है, पर वह सब कुछ नहीं है। नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर आधारित उपन्यासों में मिथकीय आरूपों और प्रसंगों का आधुनिक अर्थ रूपांतरण प्राप्त होता है और इसके साथ ही साथ रामकथा का एक सांस्कृतिक (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक), पक्ष भी उद्घाटित होता है। समकालीन वैचारिक दबावों का द्वन्द्व और उनकी तीव्रता का एक रचनात्मक संदर्भ मिथकीय रूपांतरण में एक सांकेतिक रूप में व्याप्त रहता है—इस सांकेतिकता को सही परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित करना मिथकीय विवेचना का प्रमुख कर्म है। यहां पर

एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि मिथकीय प्रतीक, बिम्ब और प्रारूप कोई स्थिर अवधारणाएं नहीं हैं, पर उनका स्वरूप मूलतः गत्यात्मक होता है जो अपनी "लोचशक्ति" के द्वारा विभिन्न अर्थ-स्तरों को देने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि इन्द्रनाथ चौधरी ने मिथकीय प्रतीक को सामान्य प्रतीक से अधिक बहुस्तरीय कहा है। (दस्तावेज-आलोचना विशेषांक 15–16) मिथकीय समीक्षा इस बहुस्तरीय गतिशीलता को जिस सीमा तक उद्घाटित एवं विवेचित कर सकेगी, उस सीमा तक मिथकीय सृजन की सांस्कृतिक व्याख्या हो सकेगी। नयी और समकालीन कविता नाटक, कहानी, उपन्यास तथा अन्य विधाओं में मिथक प्रयोग की यह बहुस्तरीय व्याख्या कम ही हुई है, और यह व्याख्या आलोचक की बहुआयामी 'दृष्टि' पर अवलम्बित है।

मिथक की बहुस्तरीय व्याख्या का एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र आज के नव मिथकों से सम्बन्धित है जो रचनाकार स्वयं निर्मित करता है। इन आधुनिक मिथकों का स्वरूप अवधारणात्मक अधिक है जिनमे कथा या इतिवृत्त का अंश काफी कम है, पर है अवश्य जो 'प्रभामण्डल' की सृष्टि करता है जिसके बगैर मिथक की सत्ता कदाचित मानी नहीं जा सकती है। ज्ञान विज्ञान के विकास के साथ और परिवेशजन्य दबावों के कारण नए मिथकों का लगातार सृजन होता है जो सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया के प्रमुख अंग होते हैं। मिथकीय समीक्षा इन नए मिथकों को उसी समय विवेचित कर सकती है जब वह उनके धारणाकृत स्वरूप को ठीक प्रकार से समझ सके और साथ ही उनके सामाजिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक सदर्भो को सही परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सके। इस सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य की अर्थवत्ता उसके सृजनात्मक सदर्भ मे है जिसके बगैर कोई भी प्रत्यय, रूपाकार या प्रतीक का प्रयोग रचनात्मक स्तर पर कदाचित मान्य नही होगा। यहां पर एक अन्य तथ्य की ओर सकेत करना आवश्यक है कि अनेक ज्ञान क्षेत्रों जैसे विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, इतिहास दर्शन तथा पुरातत्व आदि के नए मिथक एवं प्रतीक रचना के स्तर पर रूपांतरित हो रहे हैं। उदाहरणस्वरूप मार्क्सवादी विचार दर्शन तथा भौतिकी एवं समाजशास्त्रीय मिथकों का प्रयोग साहित्य मे हो रहा है। परिवर्तन, युवक, तनाव, विकास, द्वन्द्वात्मकता, दिक्काल, अचेतन, गणितीय रेखाएं एवं समीकरण तथा भूगर्भीय (खोह परतें) उत्खनन के अनेक मिथक सृजनात्मकता के स्तर पर न्यूनाधिक रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। मुक्तिबोध मे भूगर्भीय रूपाकारों का मिथकीय रूप तथा विज्ञान के मिथकों का यदा कदा प्रयोग प्राप्त होता है। उसी के साथ जन-संस्कृति का मिथक अनेक रूपों के द्वारा साहित्य में अभिव्यक्ति पा रहा है। मार्क्सवाद, गांधीवाद तथा अस्तित्ववाद मिथक का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं क्योंकि ये सभी विचार दर्शन अपने चारो ओर क्रमशः एक

प्रभामण्डल की सृष्टि कर रहे हैं। इस तथ्य का विश्लेषण "जनवादी संस्कृति का मिथक" नामक निबंध मे मैंने (मधुमती 1978) किया है और मेरी पुस्तक "मिथक दर्शन" में भी उसका पूर्ण विवेचन हुआ है। युवक, विद्रोह, तनाव, घुटन, दैत्याकार यांत्रिक सभ्यता, अकेलापन, इतिहास, द्वन्द्वात्मकता, अचेतन के रूपाकार, परामनोविज्ञान के रूपाकार और विज्ञान के ब्रह्मांडीय मिथक—ये सभी धारणाएं मिथकीय रूप ग्रहण कर रही हैं। मिथकीय विवेचना इन नए धारणाकृत मिथकों की सृजन प्रक्रिया से गहरे रूप में संबंधित है। मिथक सृजन का यह क्षेत्र साहित्य में एक अपनी वैचारिक सृजनात्मकता को गति दे रहा है जिसे रेखांकित करना मिथकीय समीक्षा का एक ऐसा तत्व है जो मिथक के बहुस्तरीय व्यापक संदर्भ को प्रकट करता है। इसी स्तर का एक पक्ष मिथक का यूटोपियन रूप भी है जैसे मार्क्सवाद का वर्गहीन समाज और सर्वहारा का राज्य। गांधीवाद का "रामराज्य" भी इसी कोटि का मिथक है जिसे प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों मे व्यंजित किया है। ये सभी मिथक मूलतः "विकास मिथक" है। यहां पर मैं मुक्तिबोध का फिर जिक्र करना चाहूंगा। कवि मिथकों को गढ़ते भी हैं। बरगद, खण्डहर, तालाब, ब्रह्मराक्षस, खाई, सीढ़ियां, चंबल की घाटी, अन्धेरा, भूमिगत परतें और इसी प्रकार के नए ग्रारकिटाइप्स बिम्ब और प्रतीक मिथकीय सृजन करते हैं। मुक्तिबोध की फैंटेसी में ये नए प्राक्रूपीय पैटर्न मिलते हैं जो अनुभव और ज्ञान क्षेत्रों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। ये नए आरकिटाइप्स हैं जो संवेदनात्मक एवं ज्ञानात्मक प्रक्रिया के अंग हैं, और पौराणिक मिथकों से सर्वथा भिन्न हैं। दूसरे संदर्भ में प्रेमचन्द ने 'होरी' को एक संघर्षरत प्राक्रूपीय हीरो का मिथक बना दिया तो शरदचन्द्र ने 'देवदास' को एक रोमांटिक द्वन्द्व से टूटता हुआ 'हीरो-मिथ' बना दिया जो रचनाकार की मिथकीय सृष्टि का परिचायक है। सामान्यतः पात्रों का रूप यहां पर एक वैचारिक बिम्ब मे बदल जाता है, वह केवल पात्र नहीं रह जाता है। जब कोई भी 'पात्र' विरोध और द्वन्द्व की स्थिति में व्यवस्था, मूल्य और जकड़न से टकराता है, तो वह हो सकता है, एक मिथक का रूप ग्रहण करले। प्रेमचन्द का होरी, सूरदास, सुमन तथा शरद का देवदास—कुछ ऐसे ही चरित्र हैं जो मात्र चरित्र न होकर 'मिथकीय कोड' की सृष्टि करते है। साहित्य में इस प्रकार के मिथकीय नव चरित्रों का यदा कदा सृजन हुआ है जो रचनाकार की एक व्यापक दृष्टि और 'मिथकीय सृजन शक्ति' का परिचायक है। यह कार्य उसी समय संभव है जब रचनाकार यथार्थ के स्तर पर और मूल्यों के धरातल पर एक ऐसी व्यापक 'दृष्टि' बना सके जो उसके 'सोच' को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करें। मिथकीय विवेचना रचनाकार के इन पात्रोन्मुख सृजनात्मकता को सही संदर्भ में रेखांकित करती है अथवा कर सकती है।

इस प्रकार मिथकीय समीक्षा का क्षेत्र व्यापक है। यह एक प्रकार से "वाद-मुक्त" व्याख्या है जिसमें विचार और संवेदना का एक गत्यात्मक रूप प्राप्त होता

है। इसे और व्यापक रूप में कहें तो कह सकते हैं कि मिथकीय विवेचना साहित्येतर ज्ञान के संस्पर्श से सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया में अपने व्यापक और बहुआयामी अर्थवत्ता को रेखांकित करती है। 'वाद' यहां पर विचार-दर्शन का अंग है, वह समीक्षा का प्रेरक तो हो सकता है, पर पूर्वाग्रह नहीं। जब मैं "विचार" शब्द का प्रयोग करता हूं तो उसका तात्पर्य 'वाद' नहीं है, पर कोई भी 'वाद" इस विचार की गतिशीलता का अंग होता है। मिथकीय विवेचना विचार के इसी गतिशीलरूप को ग्रहण करती है और अभिकल्पों, प्रारूपों, बिम्बों और प्रतीकों को एक "वैचारिक-संवेदन" के रूप में विवेचित करती है।

मिथकीय समीक्षा पर एक आक्षेप यह लगाया जाता है कि ऐतिहासिक 'काल' से भयभीत लोग ही आदर्शात्मक प्रत्ययों के द्वारा मिथकीय घटाटोप की रचना करते हैं, और इस प्रकार, कालातीत के नाम पर काल को नकारते हैं। वास्तव में मिथकीय विवेचना 'काल' और 'इतिहास' दोनों को पूरक मानती है फिर 'कालातीत' से इतना परहेज क्यों? काल एक व्यापक प्रत्यय है जो गतिशील है और जहां पर भी गतिशीलता है, वहां 'अतिक्रमण" होगा ही। साहित्य और कला कालांकित होते हुए भी काल को अतिक्रमित करती है, और इस अर्थ में ऐतिहासिक काल कोई सीमित प्रत्यय नहीं है जो अतीत और वर्तमान तक सीमित हो, पर वह भविष्योन्मुख भी होता है। यदि गहराई से देखा जाए तो मिथकीय विवेचना काल के इसी व्यापक प्रत्यय को रेखांकित करती है और साथ ही मिथक की अर्थवत्ता को 'काल' की सापेक्षता मे व्याख्यायित करती है। यहां पर मैं इन्द्रनाथ चौधरी से सहमत हूं कि मिथिक चेतना कभी ऐतिहासिक काल और प्रसंग को नकारती नहीं है। यही कारण है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया मे मिथक और इतिहास का कोई विरोध नहीं है, यहां तक कि मिथक चेतना को एक "पवित्र इतिहास" भी कहा जा सकता है जो सांस्कृतिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, इसी संदर्भ में यह कहना भी समीचीन नहीं है कि मिथकीय समीक्षा अन्ययार्थ होती है क्योंकि मिथक अन्ययार्थ होते हैं। मिथकीय प्रारूप, घटनाएं तथा प्रसंग यथार्थ की दृष्टि प्रदान करते हैं और तथ्यात्मक स्थितियों को एक सार्वभौमिक मिथकीय आवरण प्रदान करते हैं। यही कारण है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया में मिथक और यथार्थ एक दूसरे के पूरक हैं, यहां तक कि मिथक कभी यथार्थ हो जाते हैं और यथार्थ कभी मिथक। मिथकीय विवेचना यथार्थ के व्यापक संदर्भ को पकड़ती है, वह बाह्य और अन्तर के यथार्थ को एक सूत्रता में बांधती है। अन्तर और बाह्य की दुनिया, एक गत्यात्मक 'द्वन्द्व' की दुनिया है, विरोध की नहीं। 'द्वन्द्व' संगति एवं संश्लेषण की ओर अग्रसर होता है और यथार्थ के व्यापक परिप्रेक्ष्य को अपने अन्दर समेटता है।

मिथ : मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आधुनिक वैचारिक इतिहास में मनोवैज्ञानिक प्रत्ययों और विचारों का एक महत्वपूर्ण स्थान है और इसने मानवीय क्रियाओं और शक्तियों का एक नया विवेचन प्रस्तुत किया है। मानसिक क्रियाओं का एक तार्किक विश्लेषण और मानव-विकास से उसके सम्बन्ध को रेखांकित कर मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने मानव-मन की अतल गहराई का साक्षात्कार किया है। इस अध्ययन तथा खोज ने मानवीय क्रियाओं को समझने का एक नया आयाम उद्घाटित किया और साथ ही 'मनस्' और 'परिवेश' के आपसी सम्बन्ध और प्रतिक्रियाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि उनके द्वारा मानसिक और परामानसिक शक्तियों का एक 'आश्चर्यजनक' और रहस्यपरक (रहस्यवाद नहीं) लोक का क्रमिक उद्घाटन हुआ। यह उद्घाटन मानव-मन के क्रमिक विकास में परिलक्षित होता है जिसके द्वारा आदिमानव से लेकर आज तक के मानव के विकास को समझा जा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप से मानव के वैचारिक इतिहास को क्रमिक रूप से रेखांकित करता है। आदिम मानव (या प्राचीन मानव) ने मन की इस वैचारिक शक्ति का प्रदर्शन (जिसे केसिरर तथा लीवी-ब्रूहल ने प्राग्तार्किक विचारों की संज्ञा दी है) अनेक क्रियाओं तथा सृजनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया। मिथ, प्रतीक, यातु और धर्म के अनेक प्रारम्भिक विचारों की पृष्ठभूमि में मन की इसी सृजनात्मक क्रिया का परिचय प्राप्त होता है। इस मानसिक क्रिया का महत्व इसी सृजनात्मक शक्ति में निहित है जिसने मानव के वैचारिक इतिहास को अनेक 'रूपों' में विकसित किया। ये रूप' ही वे प्रारम्भिक विचार और अवधारणाएं हैं जिसने अनेक ज्ञान-क्षेत्रों (जैसे धर्म, मिथ, गणित, इतिहास आदि) को जन्म दिया और साथ ही मानसिक प्रक्रियाओं की अनेक आयामी 'गतिशीलता' को रेखांकित किया। मिथ और धर्म भी इस गतिशीलता के एक आयाम की ओर संकेत करते हैं जिसके स्वरूप और सृजन-प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणवादी दृष्टि से विवेचित एवं समझा जा सकता है। मिथिक चेतना का विवेचन और उसके विकास को एक मानसिक क्रिया के रूप में देखना जिसमें बाह्य जगत के प्रति एक

संवेदनात्मक 'उत्तेजना' का रूप भी प्राप्त होता है, सत्य में मानव-मन की उस 'शक्ति' की ओर संकेत करता है जिसे मैंने 'सृजनात्मक' या 'प्रातार्किक' शक्ति की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मिथ, धर्म तथा अन्य मानवीय क्रियाओं का सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है जिसका सम्बन्ध 'चेतना' से है। मनस् (साइकी) के दो अंग हैं—एक 'चेतन' और दूसरा 'अचेतन', जिसके बारे में फ्रायड और युंग ने अपने तरीके से विचार किया है। फ्रायड ने 'मनस्' (व्यक्तित्व) के तत्वों का विभाजन 'ईड, इगो और सुपर इगो' में किया है, जबकि युंग ने मनस् का विभाजन चेतन, व्यक्तिगत अचेतन और सामूहिक अचेतन के रूप में किया है। मनस् का इन तीन उपभागों में विभाजन युंग की विचारधारा का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है जिसने मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में और मिथ-सृजन के क्षेत्र में समान रूप से योगदान दिया है।

व्यक्तिगत अचेतन के बारे में यह मान्यता है कि वह अचेतन की ऊपरी सतह है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि ऐसी बहुत-सी वस्तुएं होती हैं जो अचेतन में एकत्र होती जाती है, जैसे ऐसी स्मृतियां जो विस्मृत हो गयी हैं, ऐसी प्रवृत्तियां तथा इच्छाएं जो दमित हो गई हैं तथा ऐसी वासनाएं जो समाज में (किसी कारणवश) पूरी नहीं हो सकी हैं। ये सभी तत्व मिलकर अचेतन की 'जटिलताओं' का निर्माण करते हैं। ये 'दमित' तत्व कभी भी 'चेतन' नहीं होते हैं, वरन् इनका प्रयत्न यह होता है कि वे चेतन स्तर को सदैव आन्दोलित करने की ओर गतिशील रहते हैं। यह तथ्य कि बहुत सी वस्तुएं जो अचेतन की 'गहराई' में प्रारम्भ होती हैं, वे क्रमशः चेतना के ऊर्ध्व स्तर की ओर बढ़ती हैं जो यह स्पष्ट करती है कि चेतना के नीचे न जाने कितने समय से एक निरन्तर विकास होता जा रहा है और वासनाएं तथा इच्छाएं अचेतन में दीर्घकाल से एकत्र होती रहती हैं और तब कहीं इसके बाद वे अपना 'प्रभाव' चेतन स्तर पर दिखाने में समर्थ होती है। इस प्रकार, अचेतन का यह ऊपरी स्तर किसी व्यक्ति के उस रूप की ओर संकेत करता है जो वह एक (चेतन) रूप में है। दूसरे शब्दों में अचेतन की यह ऊपरी सतह किसी मानव के व्यक्तिगत गुणों से संयुक्त होती है और इसी से युंग इसे 'व्यक्तिगत अचेतन' की संज्ञा देता है जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है।[2]

हम यह देख आए हैं कि मनस्-शक्ति अचेतन के द्वारा ऊर्ध्वगामी (या आरोहणशील) होती है जब तक कि वह अन्ततः चेतना में प्रविष्ट नहीं हो जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये मनस्-तत्व कहां से आते हैं, तो यह माना जा सकता है कि वे अचेतन के किसी गहरे स्तर से आते हैं। अचेतन के इस गहरे स्तर

को 'सामूहिक अचेतन' की संज्ञा दी गयी है। हमारे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती हैं जो सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियां हैं। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सामूहिक अचेतन के तत्व उसी प्रकार प्रकट होते हैं जिस प्रकार अचेतन के अन्य तत्व, अर्थात विचार, अभिवृत्ति और व्यवहार। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत और सामूहिक अचेतन के प्रकटीकरण में एक अन्तर और भी है और वह यह कि सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियां अन्य अचेतन तत्वों के विपरीत अधिक विचित्र और विषम होती है। उनकी यह विषमता इसलिए भी अधिक होती है कि उन्हें मनस्-चेतन में कहीं अधिक प्रतिरोध सहन करना पड़ता है और इसी कारण ये तत्व स्वप्न, दिवा-स्वप्न और अनेक प्रकार की मानसिक विकृतियों और हलचलों में रूपांतरित होते रहते हैं।

सामूहिक अचेतन का प्रकटीकरण एक प्रकार से जीवन से भी विस्तृत है और स्वप्न तथा फन्टेसी, जो संभाव्य की अपेक्षा असंभावित से अधिक जुड़े रहते हैं, सामान्यतः मानव-जीवन में एक आम घटना है। दूसरी ओर ऐसे दिवा-स्वप्न जो सर्वशक्तिमान (विषय से) की भावना से अनुप्रेरित रहते हैं और जीवन तथा मृत्यु की शक्ति से अन्य व्यक्तियों की सापेक्षता में गतिशील रहते हैं—ऐसे उदाहरण नैसर्गिक कम, उन्माद तथा विक्षिप्तता की दशा के अधिक निकट होते हैं। रावण का अपने को सर्वशक्तिमान मानना, हिरण्यकश्यप का अपने को इस कदर महान् शक्तिशाली मानना कि उसके आगे 'परमदेव' भी नतशिर है और 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में जोसेफ का वह स्वप्न जहां वह यह कल्पना करता है कि उसके सामने सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र नमन कर रहे हैं—ऐसे अनेक उदाहरण अचेतन की क्रिया से सम्बन्धित हैं जो यथार्थ जीवन से कहीं विस्तृत है।

'जीवन से भी बड़े' इन गुणों की अपेक्षा सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियां इतनी व्यापक है कि वे बार-बार मानवीय इतिहास में घटित होती रहती है। यह युंग के ही प्रयत्नों का फल है कि अनेक मनोचिकित्सक अपने परामर्श-कक्षों में उन तथ्यों और रहस्यों को प्राप्त कर सके जिनकी समानान्तर समानता प्राचीन ग्रन्थों और प्राचीन धार्मिक पद्धतियों में प्राप्त होती है। इन कक्षों में अनेक रोगियों के स्वप्न और फंटेसी जो जीवन से भी बड़े गुणों के दस्तावेज हैं और जिनका जीवन से गहरा महत्व है—इनकी समानता ऐसे बिम्बों और विचारों से है जो हमें मिथ और धर्म में भी प्राप्त होते हैं। सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियां अधिकतर स्वप्न और फंटेसी में ही होती है, इसका कारण यह है कि यथार्थ जीवन की चेतन-प्रक्रिया से ये तत्व बहुत कम नियन्त्रित होते हैं। सामूहिक अचेतन के प्रकटीकरण में एक अन्य तत्व की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है जिसका सम्बन्ध मिथ और धर्म से माना गया है और यह तत्व है—इन अभिव्यक्तियों की अर्थवत्ता 'व्यक्तिगत'

न होकर 'सामान्य' या 'सामूहिक' महत्व की होती है। दूसरे शब्दों में, इनका संबंध प्रत्येक व्यक्ति से है, जैसे माता का अस्तित्व, जन्म लेना, सूर्य का ताप और उसकी अपार शक्ति, मृत्यु आदि की घटनाएं, जो अनेक बिम्बों और भावों के द्वारा संसार भर में प्राप्त होती है, उन्हें ही युंग ने सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्ति कहा है। सामूहिक अचेतन की अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियां ऐसी भी हैं जो मानव-संस्कृति मे इतनी महत्व की हैं कि उन्हें सांस्कृतिक प्रक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता है। इनमे से सबसे महत्वपूर्ण नायक या 'हीरो' की भावना है जो अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अनेक बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है, सृष्टि की भावना है, निरपेक्ष पाप और पुण्य की भावना, तथा सभी व्यक्तियों को 'परमात्मा' की भावना—ये सभी तत्व प्रतीक और मिथ के सृजन मे अपना योगदान देते रहे हैं। ये सभी भाग या विचार तर्कना-शक्ति से अधिक अनुशासित नहीं रहते हैं और इसी से ये स्वप्न में रूपान्तरित होते हैं और चेतन फंन्टेसी में वाष्पीकृत हो जाते हैं। यह सारी प्रक्रिया मानव-मन की वह अद्भुत और आधारभूत प्रतिक्रिया है जिसने धर्म मिथ को जन्म दिया। मानव की अनेक क्रियाएं अनुभव के इसी प्रतीकात्मक रूपान्तरण पर विकसित हुई हैं।

सामूहिक अचेतन को मनस् का गहरा स्तर माना गया है और युंग ने इसे 'विषयगत' या वस्तुपरक (आब्जेक्टिव) माना है। इससे उसका तात्पर्य यह है कि यह स्तर व्यक्ति के विषयीगत (सब्जेक्टिव) जीवन पर आश्रित नहीं है और साथ ही, व्यक्ति के चेतन मन के द्वारा यह 'स्तर' नियन्त्रित नहीं रहता है, वरन् यह हमारे जीवन को अपने तरीके से प्रभावित करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर के आतरिक अंग (गुर्दे और जिगर) बिना चेतना के निर्देश और ज्ञान के अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सामूहिक अचेतन की क्रिया के फलस्वरूप जो बिम्ब और भाव उत्पन्न होते हैं, उनके लिए हम उत्तरदायी नहीं हैं। एक अन्य कारण से भी हम सामूहिक अचेतन को 'वस्तुपरक' कह सकते हैं कि यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान है और इस आधार पर इसकी तुलना बाह्य जगत् से भी की जा सकती है जिसमें हमारा जीवन क्रियाशील रहता है। इस प्रकार सामूहिक अचेतन एक मानसिक (या आत्मिक) पृष्ठभूमि अथवा वातावरण प्रस्तुत करता है जिसके अन्दर हम अपने चेतन जीवन को व्यतीत करते हैं और जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान है, चाहे, उन व्यक्तियों में व्यक्तिगत विभिन्नताएं क्यों न हों?

सामूहिक अचेतन और बाह्य भौतिक जगत् के सम्बन्ध को लेकर आगे भी विचार किया जा सकता है। सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्तियां जहां एक ओर विभिन्न व्यक्तियों के जीवन मे घटित होती हैं, वहीं वे समूह के जीवन में भी प्राप्त होती हैं। इसका एक उदाहरण दो महायुद्धों के बीच हिटलर का उदय है। यह

कहना कि हिटलर ने 'जर्मन जाति पर अपने प्रतिवादी विचारों को आरोपित किया, यह पूर्ण सत्य नहीं है, पर यह भी सत्य है- कि हिटलर ने जर्मन जाति की आंतरिक इच्छाओं और कामनाओं को एक ठोस अभिव्यक्ति प्रदान की जो अभिव्यक्ति के लिए एक सामूहिक रूप में प्रयत्नशील थीं। यही कार्य राम ने जनवाहिनी के संगठन के द्वारा सम्पन्न किया[5] और गांधी ने जन-मानस की इच्छाओं को एक सगठित आधार प्रदान किया। इससे यह स्पष्ट है कि एक ही प्रकार के अचेतन तत्व एक ही समूह या जाति के व्यक्तियों को प्रभावित कर सकते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मनस् की उपसरचना में व्यक्ति की सत्ता समाविष्ट रहती है जिसकी अभि-व्यक्ति उसके द्वारा होती है। युंग ने सामूहिक अचेतन को 'पर्वत की शृंखला' कहा है जिसकी चोटियां व्यक्ति का चेतन मन है।[6] एक विश्वजनीय सामूहिक अचेतन का भाव इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि इसके द्वारा ऐसी प्रक्रियाओं और घटनाओं को समझा जा सकता है जिनका सम्बन्ध एक से अधिक व्यक्तियों से होता है। मिथ और प्रतीक (धर्म) का सम्बन्ध इसी प्रक्रिया से है जो सामूहिक अचेतन और चेतन व्यक्ति के आपसी सम्बन्ध को रेखांकित करती है।

यहां यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि सामूहिक अचेतन सदैव ही अचेतन रहा है और रहना चाहिए। मानवीय विकास के दौरान जो वस्तुएं कभी सामूहिक अचेतन मे थीं, वे क्रमशः चेतना की अंग हो गयीं। पर, यह प्रतिक्रिया अत्यन्त जटिल और दीर्घकालीन है और यह सम्भव नहीं है कि सामूहिक अचेतन के तत्व कम समय में चेतना के स्तर तक आ सकें, इसके लिए एक लम्बे समय की आवश्यकता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो सामूहिक अचेतन, अचेतन की वह पृष्ठभूमि है जो चेतना को गहनता और शक्ति प्रदान करती है। यह गहराई और शक्ति मिथ-सृजन की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो काल के दीर्घ आयाम के अन्दर ही घटित होती है। उदाहरणस्वरूप "महामाता" के मिथ (धारणा) को लिया जा सकता है। 'महामाता' के भाव के चारों ओर जो तत्व एकत्र हुए हैं, उनका सम्बन्ध मानव-अनुभव से है, विशेषकर 'मानव-मातृत्व' से है और दूसरी ओर पृथ्वी पर आश्रित हमारे जीवन की अनेक दशाएं, जिन्होंने 'पृथ्वी माता' और 'प्रकृति माता' को अभिव्यक्ति प्रदान की। मातृदेवियों की कल्पना के पीछे भी इसी प्रक्रिया का स्वरूप प्राप्त होता है और धीरे-धीरे महान्-माता का मिथ एक पवित्र और दिव्य रूप में विकसित हुआ। धरती माता का एक अन्य रूप भी है जो प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर समेट लेती है जो उसके भयानक रूप को समक्ष रखती है। ऐसी भयानक देवियों की कल्पना अनेक संस्कृतियों में प्राप्त होती है, जैसे—काली, दुर्गा, आदि। माता के इस रूप को भयानक निगलने वाला रूप भी कहा गया है जो अनेक भयावह प्रस्थापनाओं की सृष्टि करता है और जो माता के अन्दर पूर्ण रूप से आश्रित होने की भावना को व्यक्त करता है। सामूहिक अचेतन में अनेक

ऐसे भावों के मध्य यह भाव भी उसी समय तक रहता है तब अन्य भावों से उसका सन्तुलन और व्यवधान रहता है, परन्तु यदि यह भाव (माता) चेतन स्तर तक एक वास्तविक अभिवृत्ति के रूप में आ गया तो यह निश्चित है कि वह मानव-जीवन अनेक अनैच्छिक विरूपों तथा विकृतियों से ग्रस्त हो जाएगा।

इस प्रकार हम देखते है कि सामूहिक अचेतन का प्रभाव व्यक्ति और समूह पर सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों रूपों में पड़ता है। युंग का तो यहां तक मत है कि सामूहिक अचेतन के तत्वों के प्रति जब व्यक्ति सचेतन हो जाता है, तब उनसे वह अनेक लाभ और शक्तियां प्राप्त करता है। यह भी सम्भव है कि जब सामूहिक अचेतन के तत्व चेतन स्तर तक गतिशील होते हैं तब महान कलात्मक कृतियों का, वैज्ञानिक अनुसंधानों का तथा अन्य मानवीय संर्जनाओं का उदय होता है। चेतन और सामूहिक अचेतन के मध्य यह गतिशील 'संवाद' अनेक महान् सर्जनाओं को जन्म देता है और यह तभी सम्भव है जब 'अहं' इस स्थिति पर अधिकार कर सके, और, यदि 'अहं' ऐसा नहीं कर सका, तो वह सामूहिक अचेतन के तत्वों से स्वयं अधिकृत हो जाएगा अथवा यह भी हो सकता है कि वह नष्ट हो जाए।[7] 'अहं' का इस प्रकार अधिकृत या नष्ट हो जाना व्यक्तित्व को खण्डित कर देता है और वह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि फ्रायड ने मिथ और प्रतीक को काम-केन्द्रित ही माना, पर व्यापक रूप में और उसे इच्छाजनित विचार-प्रक्रिया से जोड़कर आदिम मानवता से सम्बन्धित किया। इसके विपरीत, युंग ने मिथ और प्रतीक-सृजन को एक व्यापक आधार दिया और उसे केवल यौन-केन्द्रित न मानकर मनस्-शक्ति के रूप में स्वीकार किया। युंग के लिए मिथ एक मानसिक सृजन है जिसका महत्व मनोविश्लेषणात्मक है। ये मिथ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहते हैं और यह प्रक्रिया एक प्रकार से मानसिक संरचना के द्वारा ही घटित होती है।

अचेतन से एक गहरा सम्बन्ध 'आदिरूपों' का भी है जो मिथिक चेतन के अंग भी माने जा सकते हैं। इन 'आदिरूपों' का सम्बन्ध मिथ से जोड़ा गया और इस प्रकार मनस्-शक्ति के एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व की ओर संकेत किया गया। व्यक्तिगत अचेतन उन अनेक तत्वों को अपने अन्दर समाविष्ट किए रहता है जो चेतना के द्वारा अग्राह्य व वहिष्कृत किये जाते हैं। ये अग्राह्य और दमित तत्व अन्य मनस्-तत्वों से संगुम्फित हो शक्ति और ऊर्जा का रूप ग्रहण कर लेते हैं और अन्ततः अचेतन में 'जटिलताओं' को उत्पन्न करते हैं। ये जटिलताएं एक प्रकार से नाभिकीय केन्द्र के चारों ओर एकत्र हो जाती है जो जटिलताओं को एक सूत्र में बांधे रखती

है और इस प्रकार इन जटिलताओं की एक ऊर्जा प्राप्त होती है जो व्यक्तियों और समूह के मानसिक जीवन को अनेक रूपों से प्रभावित करती है। युंग इन्हीं नाभिकीय केन्द्र को 'आदिरूपों' की संज्ञा देता है जो सामूहिक अचेतन के प्रमुख मनस् तत्व हैं। ये प्रारूप या आदिरूप मानव प्रकृति के मूल तत्व हैं और इनका अस्तित्व प्रत्येक व्यक्ति में प्राप्त होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये 'आदिरूप' किस प्रकार अपना विस्तार करते हैं और अभिव्यक्ति को प्राप्त होते हैं? मनस् ऊर्जा की यह एक सामान्य प्रवृत्ति होती है कि उसकी अभिव्यक्ति अनेक 'रूपों' मे होती है, पर यहां यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि ये 'आदिरूप' नितान्त विशुद्ध रूप में प्रकट नहीं होते हैं, पर उनके चारो ओर जो 'जटिलताए' एकत्र हो जाती हैं, ये 'जटिलताए' ही अनेक कल्पनात्मक बिम्बों और प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त होती है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि ये जटिलताए मनुष्य के चेतन जीवन मे व्यवधान उत्पन्न करके अनेक रूपों में प्रकट होती हैं।

उपर्युक्त प्रक्रिया को एक व्यक्ति कुछ इस प्रकार भी समझ सकता है। मान लीजिए कि अनेक लेखकों को एक कथानक के मूल तत्व या एक चरित्र तत्व दिए जाते हैं और उनमे यह कहा जाता है कि इन दिये गये तत्वों के आधार पर अपने तरीके से कथा सृजन करें, तो हम पायेंगे कि प्रत्येक लेखक की कथा और उसके विवरणों में विभिन्नता होगी, पर इन सारी कथाओं मे एक ही मूल 'थीम' की समानता होगी। यही बात आदिरूपों के बारे मे भी सत्य है। प्राचीन और आधुनिक मानव के स्वप्नों में और अनेक कल्पनाओं में ये 'थीम' बार-बार प्रकट होते हैं, पर प्रत्येक बार, व्यक्ति, समय और दिक् की सापेक्षता मे उनके रूप 'परिवर्तित' होते रहते हैं। इसी से मिथकों को गतिशील कहा जा सकता है, उन्हें किसी भी जाति का 'जीवित स्वप्न' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वे जाति के अचेतन मे गहरे पैठे रहते हैं। मानव-मनस् के गहन तल मे आदिम काल से प्राप्त अनुभवों का संघात रहता है और यही संघात उस अनुभव को एकत्र करता है जो मानव-जीवन के सामान्य तथा पुनः पुनः घटित होने वाले तत्वों की गाथा कहता है।

इन आदिरूपों का एक अन्य कार्य भी है। ये उन-मार्गों को प्रकट करते हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने बाह्य परिवेश से सम्बन्ध स्थापित करता है जिसमें वह अपनी जिन्दगी व्यतीत करता है। उदाहरणस्वरूप, मानव अपने परिवेश में नारी से साक्षात् करता है और उससे समानता और असमानता के धरातल पर अपनी 'संवादिता' को बनाता है और इस प्रकार स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए

वह एक प्रकार के आन्तरिक झुकाव या अभिवृत्ति से प्रेरित हो उससे (नारी से) सम्बन्ध स्थापित करता है। मानव की इस आदिम इच्छा की पूर्ति एक 'आदिरूप' करता है। ये आदिरूप ऐसे बिम्बों और प्रतीकों को जन्म देते हैं जिनको हम बाह्य संसार में प्रक्षेपित करते है और यह तुलना करते हैं कि हम आंतरिक बिम्ब के द्वारा बाह्य जगत से किस सीमा तक सम्बन्धित हैं और साथ ही बाह्य जगत के प्रति कितने सजग हैं? अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आदि रूप केवल हमारी मनस्-शक्ति के स्रोत ही नहीं हैं, पर बाह्य जगत के परिज्ञान एवं बोध के स्रोत हैं, जिस जगत में हम रहते हैं। एक बात और, यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आदिरूपों का प्रक्षेपण एक ऐसी क्रिया है जो व्यक्ति निर्वाचित नहीं करता है. वह तो स्वयं ही घटित होती है। यह स्वयंचालित प्रक्रिया मानव-इतिहास मे आदिकाल से घटित हो रही है—अन्तर केवल इतना है कि आदि या प्राचीन काल मे इसका आधिक्य या और आधुनिककाल में अपेक्षाकृत इसकी न्यूनता। इसका कारण युंग ने यह बताया कि मानव-मनस् मे एक परिवर्तन और विकास का लक्षित होना जो उसकी विश्लेषणात्मक बुद्धि का परिचायक है और यह वैज्ञानिक दृष्टि आदिम मानव में उतनी विकसित नहीं थी जितनी कि वह आज विकसित है। आदिममानव प्राकृतिक घटनाओं (वर्षा, गर्जन, आदि) को किसी देवता की क्रिया समझता था जिसे हम आज वैज्ञानिक विधि से समझने का प्रयत्न करते हैं और यह 'समझ' आदिरूपों के प्रक्षेपण को रोकती है। मेरा यह विचार है कि आधुनिक मिथकों का स्वरूप प्राचीन मिथकों से इस दृष्टि से भी भिन्न है और यहां पर आकर यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि मिथक की एक अपनी सार्वभौम सत्ता है, चाहे उसके 'स्वरूप' और 'अर्थ' में कालक्रम के अनुसार भेद क्यों न आ गया हो? इसका यह अर्थ नहीं है कि आदिरूपों से मानव का आज साक्षात्कार नहीं होता है, पर सच तो यह है कि यदि उनका बाह्य जगत मे प्रक्षेपित रूप में (बिम्ब व प्रतीक रूप में) सामना नहीं होता है, तो आंतरिक रूप मे (मन में) उनका साक्षात् होता है। यह आदिरूपों का आन्तरिक साक्षात्कार अन्ततोगत्वा चेतना के स्तर पर अनेक आदि बिम्बों, मिथकों और प्रतीकों के द्वारा व्यक्त होता है।

यहां पर एक महत्वपूर्ण समस्या सामने आती है। किसी भी आदिरूप के साक्षात्कार के स्वरूप को विवेचित करने मे कठिनाई इसलिए आती है कि व्यक्ति पहले से कुछ पूर्वग्रहीत विचारों पर आश्रित रहता है जो उसके लिए महत्वपूर्ण होते हैं। एक धार्मिक या रहस्यवादी व्यक्ति यह कहेगा कि यह उसका 'ईश्वर' से साक्षात्कार है। एक आध्यात्मवादी यह कहेगा कि यह उसका 'आत्मा' से साक्षात्कार है तथा एक तर्कवादी उसका एक 'गणितज्ञ मन' के रूप में साक्षात्कार करेगा। इन प्रकार के 'अनुभव' सामान्यतः हमारी पहुंच के बाहर है, पर उनके

इन 'अनुभवों' का दूरगामी प्रभाव पड़ता है जो इन पर आस्था रखते हैं। इन 'अनुभवों' का एक अपना अस्तित्व है क्योंकि मानव-इतिहास में इन अनुभवों का एक अपना स्थान रहा है जिससे मानव-मन 'गहराइयों' का स्पर्श कर सका है। अतः इन्हें अतार्किक, अनुभव से परे, समझ से परे और दृश्यमान जगत से परे कहकर बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। अचेतन मनोविज्ञान के द्वारा हम इन अनुभवों को व्यर्थ नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ये भौतिकवाद के अन्दर नहीं आते हैं, पर तर्क के द्वारा उनके 'स्वरूप' का विवेचन अवश्य किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में कुछ महत्वपूर्ण 'आदिरूपों' की विवेचना आवश्यक है। ऐसा ही एक आदिरूप है 'छाया' (शैडो)। यह हमारे अन्दर एक गहरा 'काला' रूप है, एक प्रकार से एक अन्य 'स्व' जो हममें से प्रत्येक के अन्दर विद्यमान है जो भयंकर और 'पापी' व्यक्ति का प्रतिरूप है। इस 'छाया' का सम्बन्ध व्यक्तिगत अचेतन से है। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मनुष्य की 'छाया' पूर्णतः पापमयी नहीं है पर यह कहना अधिक न्यायसंगत होगा कि यह 'छाया' उन तत्वों से निर्मित हुई है जिसे व्यक्ति अशुभ या बुरा समझता है। स्वप्न में यह 'छाया' एक काले पुरुष या स्त्री के रूप में दिखाई देती है और चित्रपट तथा दूरदर्शन पर एक बुरे मनुष्य के रूप में सामने आती है जो नायक या हीरो' के द्वारा पराजित होती है। अतः यह 'छाया' हमारे चरित्र का एक अभिन्न अंग है जो सदा हमारे साथ रहती है और मनस्-प्रकृति का एक अनिश्चित और काला भाग है। केवल वे ही वस्तुएं छाया प्रतिक्षेपित करती है जो तीन-आयामिक होती है। यहां पर युंग का यह कथन विचार-योग्य है कि 'यदि हमारे पास ये छायाएं नहीं हैं, तो हम पूर्णरूपेण 'मानवीय' नही हैं।' असल में, छाया का यह आदिरूप उन तत्वों से घटित होता है जो हमारे द्वारा बहिष्कृत होकर क्रमशः दमित हो जाते हैं और इस प्रकार इनका दूषित प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ने लगता है। अतः यह आवश्यक है कि हम इन 'बुरे तत्वों' के प्रति पूर्ण सचेत रहें और चेतन स्तर पर उनकी आलोचना कर सकें। इस प्रकार हम जो भी बुरे या मूर्खतापूर्ण आचरण करते हैं, उनके प्रति हम स्वयं उत्तरदायी और सचेत हो सकें। ये छायाएं विभिन्न तत्वों से निर्मित होती हैं जो चेतन मन के द्वारा स्वीकृत नहीं होती है, अत. यहां यह प्रकल्पना करना आवश्यक है कि एक गहरा आदिरूपगत केन्द्रक होता है जिसके चारों ओर ये छायाएं एकत्र होती हैं। इस 'केन्द्रक' को राक्षस (शैतान) का आदिरूप भी कहा जा सकता है। यह शैतान पाप या बुरे का एक समष्टि रूप है जो सामान्य रूप से बहुसंख्यक लोगों में प्राप्त होता है। इस संसार में हमारा जीवन अधूरा माना जाएगा यदि हम जगत और मानव स्वभाव के दोनों क्षेत्रों में इस पाप या बुरे (शैतान) के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेंगे। सत्य में यह शैतान अच्छे और पुण्य का अनंत विरोधी है, वह एक प्रकार से पाप या बुरे कर्मों का अन्तर्मूत सिद्धान्त है—एक ऐसा पाप जो

घृणायोग्य है, पर पापी स्नेहयोग्य है। यह शैतान किसी न किसी रूप में समस्त धर्मों और मिथकों में प्राप्त होता है।

मानव-इतिहास के क्रमिक विकास को दृष्टिपथ में रखकर एक अन्य महत्व-पूर्ण आदिरूप का विवेचन आवश्यक है जो स्त्री और पुरुष के काम-आकर्षण और सम्बन्ध पर आधारित है। बुरे 'स्व' (छाया) के साथ ही प्रत्येक मनुष्य में एक स्त्री पक्ष है और प्रत्येक स्त्री में एक पुरुष-पक्ष है। अनेक स्त्री-पुरुष इस 'अन्य' पक्ष के प्रति नकारात्मक रहते हैं, अथवा उसे स्वीकार नहीं करते हैं। सामान्य रूप से ऐसा पाया गया है कि पुरुष की कल्पना और फंटेसी में नारी का बिम्ब छाया के साथ आता है और युंग ने इस बिम्ब को 'अमीना' की संज्ञा दी है।[9] 'अमीना' का गठन पुरुष के स्त्री-पक्ष पर आधारित है जो पुरुष के उस अनुभव से सम्बन्धित है जो वह वास्तविक नारी के सम्बन्ध से प्राप्त करता है। 'अमीना' का आदिरूप यह भी स्पष्ट करता है कि पुरुष अनादिकाल से नारी के प्रति जिज्ञासाजनित मनोभाव से आकर्षित होता रहा है और वह अपने में कभी भी 'पूर्ण' नहीं रहा है। यह आदिरूप पुरुष को नारी के संसर्ग की ओर प्रेरित करता है और विसंगति उस समय उत्पन्न होती है जब मनुष्य के इस दूसरे नारी पक्ष को अस्वाभाविक रूप से दमित किया जाता है। नारी ही वह एक और 'अन्य' है जो उसकी आवश्यकता है जिसके बगैर वह अधूरा है। यह 'पक्ष' प्रत्येक चेतन व्यक्ति का एक अभिन्न अंग है।

मनुष्य में 'अमीना' एक नारी-व्यक्तित्व के रूप में प्रकट होती है, परन्तु नारी में अपेक्षाकृत ऐसे व्यक्तित्व-प्रधान एक बिम्ब का अभाव रहता है। नारी के स्वप्नों और कल्पनाओं में पुरुष के अनेक बिम्बों का समूह प्राप्त होता है अथवा व्यक्तिवादी पुरुषों के अनेक बिम्ब समक्ष आते हैं। असल में स्त्री और पुरुष की अभिवृत्तियों में यह विरोध अचेतन स्तर पर ही क्रियाशील रहता है और चेतन स्तर पर आकर उसका स्वरूप विपरीत हो जाता है। सामान्य रूप से नारी अपनी इच्छा से पूर्ण समर्पण एक प्रभावशाली व्यक्ति या वस्तु के प्रति करती है, जबकि पुरुष अपेक्षाकृत अनेक वस्तुओं के प्रति प्रेरित होता है। यह परिस्थिति अचेतन में नितान्त उल्टी या विपरीत हो जाती है। यही कारण है कि पुरुष की अपेक्षा नारी में अधिक स्थायित्व होता है जहां तक यौन या काम सम्बन्धों का प्रश्न है। पुरुष में जिसे 'अमीना' की संज्ञा दी गयी है, नारी में उसे 'अमानस' कहा गया है। यदि मानव-जीवन में इन्हें एक स्वस्थ और प्रेरणादायक स्थान दिया जाए तो यह निश्चित है कि नारी और पुरुष के यौन सम्बन्धों में एक सृजनात्मक अभिवृत्ति का स्थान हो सकता है जो केवल 'वासना' पर आधारित नहीं होगा। इस तथ्य को दूसरे शब्दों में रखा जाए तो कहा जा सकता है कि पुरुष 'अमीना' को नारी पर प्रतिक्षेपित करता है जिसके द्वारा वह उसकी ओर आकर्षित होता है और इस प्रकार दोनों के

मध्य एक 'सम्बन्ध' का सूत्रपात होता है। दूसरी ओर यही प्रक्रिया स्त्री-पक्ष में भी होती है और वह अपन 'अमीनस' को पुरुष के प्रति प्रतिक्षेपित करती है।

'अमानस' आदिरूप के संदर्भ में 'महामाता' का आदिरूप एक महत्वपूर्ण मिथक के रूप में विकसित हुआ। माता का आदिरूप व्यक्ति के जन्म से सम्बन्धित है जो माता के वास्तविक रूप को प्रकट करता है जिस पर व्यक्ति का जीवन निर्भर करता है। माता का एक अन्य रूप पृथ्वी माता का है जिससे समस्त जीवन का उद्गम होता है। अतः इस आदिरूप के दो पक्ष हैं—एक दयामय व प्रेममय रूप, तथा दूसरा, खतरनाक और भयंकर रूप। धरती का दूसरा रूप इसलिए खतरनाक और भयंकर है कि वह अपने उदर में सभी कुछ को निगल जाती है तथा अपने अन्दर सबको पर्यवसित कर लेती है। यह भी कहा जा सकता है कि धरती से जीवन प्राप्त कर हम अन्ततः मृत्यु के समय उसी में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार महामाता का आदिरूप मूलतः प्रेम के मनोभावों से सम्बन्धित है।

महामाता के आदिरूप के साथ यातुधान का आदिरूप भी सम्बन्धित है। यातुधान का आदिरूप पुरुष के सिद्धान्तों की जो नारी के सिद्धान्तों के तद्रूप होते हैं और जिनका सम्बन्ध महामाता के आदिरूप से होता है, उन्हें यातुधान एक सूत्र मे एकत्र करता है। यह आदिरूप सत्य में, एक प्रकार से यौनगत यातुक क्रिया से सम्बन्धित है जिसके द्वारा वह अपने परिवेश या अन्य का सिंचन करता है और इस प्रकार एक नये जीवन को उत्पन्न करता है। चीनी तथा भारतीय विचारधारा में ये दोनों महान् आदिरूप 'स्वर्ग' और 'धरती' के द्वारा प्रकट किए गए हैं। स्वर्ग का रूप क्रियात्मक है, जबकि धरती का स्वरूप निष्क्रिय और ग्रहणशील है। इस प्रकार यातुधान का आदिरूप अपने चारों ओर उन तत्वों को एकत्र करता है जिनका सम्बन्ध उन विचारों से है जो सत्य के स्वरूप-का साक्षात्कार कराते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिरूपों का सम्बन्ध अचेतन से होता है। अचेतन से ये आदिरूप मनस् को प्रभावित करते हैं और मनुष्य को विपरीत स्थितियों में महत्वपूर्ण निर्देश देते हैं। यदि इन आदिरूपों की शक्ति को चेतन स्तर पर क्रियाशील होने का अवसर प्राप्त नहीं होता है, तब इन आदिरूपों की शक्ति एक व्यक्ति को या अन्य व्यक्तियों को खतरे में डाल सकती है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति आदिरूप के द्वारा अधिकृत रहता है और यह सम्भव है कि वह या तो बहुत अधिक या कम मानवीय हो सकता है। युंग का मनोविज्ञान हमें यह निर्देश देता है कि अचेतन में प्राप्त आदिरूपों के प्रति हम सचेतन रहें। आदिम मानव में उपर्युक्त दोनों प्रकार के आदिरूप स्वर्ग और धरती, देवता, और दानव के रूप में प्रतिक्षेपित होते रहे हैं। इस प्रकार, मानव ने यातु और अनुष्ठान के द्वारा

देवताओं की सृष्टि अपने लिए की और वह यह तथ्य भी भली प्रकार जानता था कि देवता और दानव मानव-मन के दो अंग हैं जिनसे वह प्रभावित रहता है। देवता और दानव के आदिरूपों का प्रतिक्षेपण सही या सार्थक ही नहीं, एक प्रकार से आवश्यक भी था क्योंकि इनके द्वारा जो घटनाएं घटित होती थीं, उनको समझने के लिए एक वैचारिक मॉडल की आवश्यकता आदिमानव को महसूस हुई थी।

संदर्भ-संकेत

1. मॉडर्न साइकॉलोजी, डेविड फॉक्स, पृ. 77
2. साइकॉलोजी ऑफ द अनकान्शस, युंग, पृ. 15
3. मॉडर्न साइकॉलोजी, डेविड फॉक्स, पृ. 84
4. फिलासफी इन ए न्यू की, सूसेन के. लैंगर, पृ. 33
5. इस पक्ष का एक सुन्दर विवेचन डॉ. नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर लिखे गये उपन्यास 'संघर्ष की ओर' (तृतीय खण्ड) में प्राप्त होता है।
6. मॉडर्न साइकॉलोजी, पृ. 87
7. साइकॉलोजी ऑफ दि अनकान्शस, युंग, पृ. 49
8. मॉडर्न साइकॉलोजी, डेविड फॉक्स, पृ. 139
9. मॉडर्न साइकॉलोजी, पृ. 144

समकालीन कविता और मिथकीय-अर्थ रूपांतरण

समकालीन कविता के परिप्रेक्ष्य में मिथकों का प्रयोग, नई कविता के समान सामान्य प्रवृत्ति तो नहीं है, पर एक विशिष्ट प्रवृत्ति अवश्य कही जा सकती है। नई कविता में मिथकों का 'दोहन' जिस सीमा तक हुआ उस सीमा तक आठवें दशक की कविता में नहीं हुआ। यथार्थ और वास्तविकता के प्रति अधिक आग्रह होने के कारण विवेच्य कविता में मिथकीय रूपान्तरण, यथार्थ के दंश को और दूसरी ओर विविध वैचारिक आयामों को उद्घाटित करते हैं। दूसरे शब्दों में, यह मिथकीय रूपान्तरण की एक ऐसी यथार्थ-दृष्टि है जिसमें यथार्थ और आंतरिकता को रचनात्मक धरातल पर अभिव्यक्त किया गया है।

इससे पूर्व कि मिथकीय-रचनाओं को लिया जाए, मिथक और कविता के संवाद और सम्बन्ध की दिशाओं को स्पष्ट करना आवश्यक है। यहां पर यह निर्देश करना आवश्यक है कि मिथक का स्वरूप मूलतः सृजनात्मक होता है क्योंकि आदिम काल से लेकर आज तक मिथकों की पुनर्व्याख्या (पुनर्सृजन) और नए मिथकों का सृजन होता रहा है। यह कहना कि मिथक केवल 'आदिम' होते हैं नितान्त भ्रामक और एकांगी धारणा है। उनका विकासात्मक सम्बन्ध तो आदिम मानसिकता से हो सकता है जो आज को अतीत से जोड़ता है पर मिथकों का अस्तित्व केवल आदिम ही नहीं आधुनिक भी है। इस दृष्टि से, सृजनात्मकता का जहां तक प्रश्न है, मिथक और साहित्य (कला भी) का एक गहरा एवं अर्थवान् सम्बन्ध है। यह एक ऐसा बिन्दु है जो यह स्पष्ट करता है कि मिथक और कविता का रिश्ता बहुत पुराना है और जाति की सांस्कृतिक प्रक्रिया से उसे 'नकारा' नहीं जा सकता है।

मिथ, जैसाकि युंग का कथन है कि किसी भी जाति के 'जीवित स्वप्न' होते हैं जो यह तथ्य प्रकट करते हैं कि मिथक, यथार्थ और स्वप्न के द्वन्द्व को रेखांकित करते हैं। यही कारण है कि मिथ कभी यथार्थ हो जाते हैं और यथार्थ कभी मिथक का रूप ले लेते हैं। मिथ और यथार्थ का यह अन्योन्य संक्रमण उसको

प्रासंगिकता को युगानुकूल भी बनाते हैं और इस अर्थ में, मिथक किसी भी जाति के अचेतन में, बिम्बों, प्रतीकों और आदिरूपों (आरकिटाइप्स) के द्वारा गहरे पैठे रहते हैं जो बार-बार मानव चेतना को आन्दोलित एवं क्रियाशील करते हैं। अतः सांस्कृतिक प्रक्रिया में मिथकीय-संवेदन कभी धूमिल नहीं होता है क्योंकि कोई भी जाति इन मिथकों के द्वारा अपनी समष्टि अस्मिता को पहचानने का प्रयत्न करती है। इस अर्थ में, मिथ सामूहिक अचेतन के अभिन्न अंग हैं। कला और साहित्य मिथ की इसी सांस्कृतिक-प्रक्रिया को व्यक्ति और समूह-मन के धरातल पर और यहां तक कि ब्रह्माण्डीय धरातल पर नए अर्थ-संदर्भों के साथ अभिव्यक्त होते हैं। मिथ का यह रूपान्तरण उसकी 'लोच-शक्ति' का ही प्रतिरूप है जिसके द्वारा मिथक 'काल' का अतिक्रमण करते हैं और कोई भी महान् 'कृति' 'काल' को इसी अर्थ में अतिक्रान्त करती है। ऐसी कालजयी 'कृतियां' केवल वर्तमान और अतीत तक ही सीमित नहीं रहती हैं, पर वे काल की एक आयामिक गतिशीलता में अतीत, वर्तमान और भविष्य में अर्थवत्ता प्राप्त करती हैं जैसे रामचरितमानस, इलियड, डिवाइन कामेडिया, पैराडाइज लास्ट और कामायनी आदि इसी प्रकार की मिथक रचनाएं हैं।

जब हम मिथक को अपने समय का रचनात्मक संदर्भ देते हैं, तो उस समय किसी भी मिथक की अर्थवत्ता दो समानान्तर तत्वों पर आधारित होती है। एक तत्व है मिथ का मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं ब्रह्माण्डीय परिप्रेक्ष्य जो समष्टि रूप से, मिथ को बहुआयामी व्यापकता को चरितार्थ करते हैं। दूसरा तत्व है किसी भी मिथ का 'सार-तत्व' (इसेंस) जो जाति के अचेतन में पैठा रहता है जो एक तरह से मिथ की 'आत्मा' है। यदि रचनाकार इस सारतत्व की रक्षा करते हुए नए संदर्भ देता है, तो वह उस मिथ को अपने समय की आवश्यकता के अनुसार रूपान्तरित करने में सफल होता है और इसी के आधार पर 'काल' की सापेक्षता में मिथ का रूपान्तरण होता है।

इस संदर्भ में 'आदिरूपों' या आरकिटाइप' को लेना भी आवश्यक है क्योंकि मिथिक चेतना और सर्जना में ये 'आदिरूप' सामूहिक अचेतन के ऐसे तत्व हैं जो अग्राह्य और दमित तत्वों के एकत्र होने पर 'जटिलताओं' को उत्पन्न करते हैं और ये ही जटिलताएं आदिरूपों का सृजन करती हैं जो सामूहिक अचेतन के प्रमुख मनस् तत्व हैं।[1] ये आदिरूप अपना संदर्भ बदलकर आ सकते हैं क्योंकि आज के तनावपूर्ण जीवन में इनका अस्तित्व उतना ही सत्य है जितना प्राचीन और आदि-काल में था। आदिरूप केवल मनस् ऊर्जा के स्रोत ही नहीं हैं, पर बाह्य जगत् के परिज्ञान एवं बोध के भी स्रोत हैं। ये आदिरूप स्वयं ही प्रतिक्षेपित होते हैं और ऐतिहासिक प्रक्रिया में सदैव घटित होते हैं। इस प्रकार के आदिरूप हैं—अमीना (काम), अमीनस (रति), राक्षस, शैतान, हीरो, प्रकाश, वृत्त, धरती, आकाश आदि

जो सदा से साहित्य और कला में रचनात्मक संदर्भ पाते रहे हैं। मिथक के रचनात्मक रूप की व्याख्या के लिए इन आदिरूपों को ध्यान में रखना आवश्यक है। नायक, महामाता, असुर आदि के आदिरूप जहां एक ओर जातीय अचेतन के अभिन्न अंग हैं, वहीं ये व्यक्ति-मन के सामान्य ऊर्जा स्रोत हैं। नायक या हीरो का सम्बन्ध 'महामाता' से है जो उसका प्रेमी भी है और पुत्र भी. और इस रूप में वह 'महामाता' पर अधिकार कर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है जो प्रत्यक्ष रूप से मातृसत्ता से पितृसत्ता की ओर संक्रमण का सूचक है।[2] हीरो की यह उत्पत्ति आगे चलकर अनेक प्रकार के नायकों को विकसित करती है जो क्रमशः सांस्कृतिक समूह-मन के अभिन्न अंग हो जाते हैं। हीरो के ये विविध रूप साहित्य में इतने स्पष्ट हैं कि वे युगीन प्रभावों के द्वारा रूपान्तरित होते रहते हैं। !

उपरोक्त संदर्भ के प्रकाश में कुछ महत्वपूर्ण काव्य-कृतियों को लेना आवश्यक है जो खण्ड काव्य और कविताएं दोनों प्रकार की हैं। इन रचनाओं में मिथकीय प्रसंग एक 'माध्यम' के रूप में आते हैं जो आज के वैचारिक द्वन्द्व को प्रकट करते हैं। मिथकों का यह वैचारिक समकालीन रचनात्मक संदर्भ मिथकों को नयी अर्थवत्ता और व्याख्या प्रदान करता है। यहां पर मैं केवल उन्हीं मिथकों को ले रहा हूं जो प्राचीन हैं, वैसे यह भी सत्य है कि आज का रचनाकार स्वयं नए मिथकों का सृजन कर रहा है जिसे अन्यत्र एक स्वतन्त्र लेख के रूप में लिया जा सकता है जो यहां सम्भव नहीं है।

पहली रचना 'सूर्यपुत्र' है (1975) जो अकविता के कवि जगदीश चतुर्वेदी द्वारा रचित खण्ड काव्य है। इस रचना में अकविता के तत्वों जैसे यौनकुंठा, अश्लील बिम्बों, वीभत्स कामोद्दीपन आदि का संस्पर्श नहीं हुआ है और कृति में एक भाषिक 'उदात्तता' का परिचय मिलता है। मिथ का पुनर्सृजन भाषा के स्तर पर होता है और सूर्यपुत्र' भाषा के स्तर पर एक ऐसा ही प्रयोग है।

इस कृति में कर्ण के मिथक का रचनात्मक रूपान्तरण प्राप्त होता है जिसमें इतिवृत्त का समावेश अपेक्षाकृत अधिक है, और वैचारिकता के प्रसंग कहीं-कहीं पर हैं। इतिवृत्त और वैचारिकता का संयोजन अवश्य प्राप्त होता है, पर इतिवृत्त की प्रधानता होने से वैचारिक पक्ष धूमिल पड़ जाता है। स्वयं कवि ने भूमिका में कहा है—"महाभारत के एक प्रमुख पात्र कर्ण को मैंने इस काव्य का मूल स्रोत बनाया और उसके जीवन की यातना और संघर्ष को आज के मनुष्य के द्वन्द्व और विसंगति से अनुप्राणित कर नए भावबोध से संयुक्त करने का प्रयास किया है।"[3] कर्ण के व्यक्तित्व में यह समकालीन रूपान्तरण अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है जो कथाप्रसंग

के साथ क्रमशः उद्घाटित होता है। अपमान एवं निर्वासन की आत्मग्लानि, 'सूतपुत्र' होने की सामाजिक विडम्बना, अर्जुन द्वारा अभद्र व्यवहार से उपजी प्रतिशोध की भावना तथा भीष्म पितामह द्वारा उसे सेनापति न बनाया जाना—आदि ऐसे प्रसंग है जो आज के व्यक्ति की विसंगति, द्वन्द्व और तनाव को स्वर देते हैं। इन प्रसंगों के द्वारा कर्ण के ओजस्वी और संघर्षशील व्यक्तित्व को सफलतापूर्वक उभारा गया है जो नाटकीय भंगिमा से युक्त है। अर्जुन द्वारा अपमानित कर्ण का यह रूप लें जिसे दुर्योधन देखता है—

> एक प्रभंजन जाता हुआ मानवीय रूप में
> एक अलख ज्योति जो झुलसाएं थी अन्तर तक।[4]

और इसी के फलस्वरूप दुर्योधन अपनी मित्रता का हाथ उसकी ओर बढ़ाता है और उसे एक सामाजिक न्याय देने की कोशिश करता है। यह प्रसंग अपरोक्ष रूप से, आज की सामाजिक व्यवस्था में शूद्रों की नियति और स्थान पर एक तीखा व्यंग्य करता है। माता कुंती और कर्ण के संवाद, कर्ण की मनोदशा और तेजस्विता को एक साथ प्रकट करते हैं और दूसरी ओर, कुन्ती के मातृत्व को आदोलित भी करते हैं जो सामाजिक विधि निषेधों और टैबू के कारण अपने 'मन' की अकाट्य लालसा को खुलकर व्यक्त नहीं कर पाती है। यह प्रसंग मां और पुत्र के द्वन्द्व को, भाषा के स्तर पर संवेदनशील बनाता है—

> पर यदि अर्जुन का निधन हो
> और जीवित रह जाऊं मैं
> तो माता तुम मिलने वीर मां की तरह
> इस तरह गोपनीय निर्जन तट पर नहीं
> करना अभ्यर्थना सार्वजनिक रूप से
> —देना मुझे मातृस्नेह।[5]

कर्ण का यह अन्तर्द्वन्द्व उसके सामाजिक रूप को भी व्यक्त करता है जो 'दान' के व्यापक रूप पर आधारित है। "अपने को बर्बर होम किए; द्वंदमुक्त चिन्तन के द्वारा" (पृ. 57) ही आत्मदान की सार्थकता है। दान निर्वैयक्तिक एवं स्वार्थ से परे होता है। इसी भाव से वह इन्द्र को अपना कवच कुंडल देता है। कर्ण का व्यक्तित्व और उसके जीवन की सार्थकता उस समय प्रकट होती है, जब कृष्ण की कूटनीति तथा युद्ध नियम का उल्लंघन कर कृष्ण अर्जुन को कर्ण के वध के लिए प्रेरित करते हैं, परन्तु फिर भी कृष्ण को यह कहने के लिए विवश होना पड़ा—

"युग नहीं खींचे जाते किसी रेखा से
युग का निर्माण करते हैं विश्वजयी,
कर्ण का अन्त ही द्वापर का अन्त है।"[6]

ये पंक्तियां कर्ण के व्यक्तित्व का उद्‌घोष करती हैं।

सूर्य पुत्र का एक अन्य प्रमुख पात्र कुंती है जिसके माध्यम से काम और रति के उदात्त रूप को प्रस्तुत किया गया है। कुंती का 'सूर्य' के प्रति आकर्षण एक अनादि कामवृत्ति का सूचक है जो 'सूर्य के तेजस्वी मुखमंडल', 'अग्निपिंड सी प्रज्वलित नयन राशि' तथा 'वासंती उन्माद घोलने वाले शलाका पुरुष'[7] के प्रति आत्मसमर्पण करने को उत्सुक है। मनोवैज्ञानिक रूप से नारी के अन्दर एक पुरुष की 'छाया' 'आरकिटाइप' के रूप में रहती है जिसे रति या 'अमीनस' की संज्ञा दी गई है और इसी प्रकार पुरुष में जो नारी की 'छाया' रहती है, उसे काम या अनीमा की संज्ञा दी गयी है।[8] पुरुष और नारी में ये 'आदिरूप' अनादिकाल से चले आ रहे हैं। सूर्य और कुंती का यह आकर्षण इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

कुंती के संदर्भ में एक बात और महत्वपूर्ण है, वह है उसका पवित्र कौमार्य जो महान नायकों या हीरो को जन्म देता है, जो एक विशेष प्रकार की मिथकीय कल्पना है। संसार के अनेक मिथकों में कौमार्य माता का रूप प्राप्त होता है जो 'महामाता' का रूपान्तरण माना गया है। मरियम, कुंती, कैडी शोध और देवदासियों की भावनाओं में पवित्र कौमार्य का रूप प्राप्त होता है। नारी का यह रूप अपने में स्वतन्त्र और निरपेक्ष है, वह किसी पुरुष पर आश्रित नहीं है, वह अपने में स्वयं उर्वराशक्ति का प्रतीक है।[9] यह पवित्र कौमार्य मातृसत्ता से पितृसत्ता के मध्य की वह कड़ी है जो नायकों को जन्म देती है।[10] कर्ण इसी पवित्र कौमार्य से उत्पन्न वह तेजस्वी चरित्र है जो सूर्य की तेजस्विता और कुंती के आत्मसमर्पण का सृजन है। इस प्रणय में सृजनात्मकता है, काम का मंगलरूप है और "नए वेद का निर्माण है।" सूर्य का यह कथन दृष्टव्य है—

प्रेमी के रूप में मेरा अभिसार
एक नए इतिहास का शुभारंभ होगा
मेरी और पृथा की संतति
एक नए वेद का निर्माण करेगी।[11]

'सूर्यपुत्र' का एक अन्य रचनात्मक प्रसंग है घटोत्कच प्रसंग और अर्जुन का कर्ण से युद्ध। यह युद्ध प्रसंग इतना सजीव है कि आधुनिक अणुयुद्ध की विभीषिका का पूर्वसंकेत सा लगता है। घटोत्कच का मायावी भयानक रूप इसी का आभास देता है—

राक्षसी माया से हो गया अदृश्य, क्षणभर में
घिर गए वीर कर्ण विकराल प्रेतों से
रथ पर गिरने लगे प्रचंड शिलाखण्ड
प्रबल वृक्ष
शूल और मुद्गर,
विभिन्न आकारों के।[12]

आदि।

'सूर्यपुत्र' में विचार और इतिवृत्त का संयोजन है, पर इतिवृत्त का प्रभाव अधिक है। इसके विपरीत विनय के खण्ड काव्य 'एक पुरुष और' (1974) में वैचारिकता का एक अधिक क्रमबद्ध रूप प्राप्त होता है। इतिवृत्त यहां केवल एक प्रसंग है, एक हल्का माध्यममात्र है जिसके द्वारा आधुनिक मानव और इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को रेखांकित किया गया है। महाभारत के एक प्रसंग मेनका और विश्वामित्र के प्रणय मिथक को कवि ने आज के संघर्षशील जीवन, व्यक्ति के अस्तित्व की सार्थकता और विडम्बना तथा मूल्यों से सीधे टकराव की दशा को एक अर्थवान् संदर्भ देने का प्रयत्न किया है। विनय के इस मिथकीय रूपान्तरण में, जैसीकि उनकी मान्यता है कि "उस काल के मानव के सामने भी अनेक सामाजिक, आर्थिक और वैयक्तिक प्रश्न थे जिस प्रकार आज के मानव के सामने हैं" (भूमिका) ऐसे ही प्रश्नों को आज के संदर्भ में देखा गया है। कवि का यह मिथक आज भी एक यथार्थ लगता है। यहां पर मिथ और यथार्थ का एक गहरा गठबन्धन है जो वैचारिक द्वन्द्व को प्रकट करता है। मिथक काव्य इसी गठबन्धन को एक अर्थवत्ता देता है।

मिथकीय कल्पना में सृष्टि की उत्पत्ति एक वृत्त, गोलक या सर्पाकार कुंडल से मानी गयी है जो आदि सृष्टितत्व है जिसके द्वारा क्रमशः युग्मों और विलोमों की रचना हुई। यही आदितत्व 'द्विलिंगी' भी था जिसने स्त्री पुरुष को जन्म दिया।[13] इस आदिगोलक को अनेक नामों के द्वारा विभिन्न मिथकों में पुकारा गया जैसे ब्रह्म, जेहोवा, शून्य, गॉड आदि। समस्त सृष्टि इन्हीं 'विलोमों' के द्वारा विकसित हुई। इसे ही कदाचित् फ्रेड हॉयल ने 'पृष्ठभूमि पदार्थ' की संज्ञा दी जो सदा से उपस्थित रहा है और रहेगा। वह कभी समाप्त नहीं होगा।[14] कवि ने इस कृति का आरम्भ इसी मिथकीय कल्पना के द्वारा किया है जो 'द्वन्द्व' को आकार प्रदान करती है:

एक सर्पाकार कुण्डल,
धीरे से खुल रहा था हवाओं में

> और एक आरम्भ,
> द्वन्द्व को बल देता हुआ
> विभाजित हो रहा था
> अपने ही खण्ड में।[15]

यह विलोम—पुरुष तथा नारी तत्व—इस कृति में समानान्तर महत्व रखते हैं। उनके द्वन्द्वात्मक रूप को प्रदर्शित करते हुए उनके पूरक-महत्व को व्यंजित किया गया है। यही समानान्तरता विश्वामित्र और मेनका के द्वारा व्यक्त हुई है। धरती और आकाश, असत् और सत्, नर और नारी, स्वप्न और यथार्थ, माता और पिता आदि विलोम कवि की कल्पना को सदैव से आन्दोलित करते रहे हैं। ये समस्त 'आदिरूप' आदिम होते हुए भी आज के मानव को भी प्रेरित करते हैं और कदाचित् जाति की सांस्कृतिक प्रक्रिया से विलुप्त नहीं हो सकते हैं। विश्वामित्र की यह घोषणा इसका प्रमाण है—

> कि विश्वामित्र और मेनका की यह समानान्तरता
> धरती और आकाश
> यथार्थ और स्वप्न
> दोनों अपूर्णताओं के मिलने का बिन्दु है।
> और जीवन की गतिशीलता
> उसके ऊर्ध्वोन्मुख होने का प्रयास है।[16]

मेनका और विश्वामित्र का मिलन केवल भोग और वासना का रूप नहीं है, यहां पर मेनका 'अप्सरा' नहीं है, वह एक पूर्ण स्त्री है जो "नयी पीढ़ी को जन्म देने वाली नैतिकता है।" इस प्रकार ये दोनों पात्र एक 'उदात्तता' को लिए हुए हैं और मेनका के मातृत्व में इसी 'उदात्त' के दर्शन होते रहते हैं। स्वयं विश्वामित्र यह उदात्तता मेनका को प्रदान करते हैं।

'एक पुरुष और' में यह 'उदात्त' तत्व उसके वैचारिक पक्ष में भी प्राप्त होता है जो अनेक आयामी है। जनवादी चेतना, संघर्ष और द्वन्द्व, इतिहास और आत्मतत्व का सम्बन्ध, द्वन्द्वात्मक गतिशीलता, मानव व्यक्तित्व का ऊर्ध्वीकरण, तपस्या और साधना का व्यापक संदर्भ, भोगवादी संस्कृति की नियति तथा विद्रोह की आधुनिक सांकेतिकता—ये सभी तत्व वैचारिक धरातल पर रचनात्मक रूपांतरण प्राप्त करते हैं। ये वैचारिक प्रसंग इन्द्रलोक की भोगवादी एवं पूंजीवादी व्यवस्था मे, विश्वामित्र के तप से, (जनवादी चेतना का रूप) उस व्यवस्था के विकम्पित होने मे, विश्वामित्र के तप भंग हेतु मेनका को भेजने मे और मेनका तथा विश्वामित्र के प्रणय प्रसंग के

रचनात्मक संदर्भ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह काव्य, पुरुष के अन्दर छिपे 'अन्य पुरुष' के महत्व को प्रकट करता है, वहीं आज के संघर्षशील जीवन और वैचारिक द्वन्द्व को भी रेखांकित करता है। इन प्रसंगों में सार्थक एवं संवेदनशील 'वक्तव्यों' का रचनात्मक स्वरूप प्राप्त होता है जिसका विवेचन अपेक्षित है।

कवि ने ऐतिहासिक प्रक्रिया और जनचेतना को सापेक्ष माना है क्योंकि इतिहास की धमनियों में जनचेतना का रक्त ही उसे गति देता है। यह प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है :

> इतिहास कोई देवता नहीं
> अदृश्य अपरिचित
> वह मनुष्य भी नहीं
> जो मर जाएगा एक दिन
> उसकी धमनियों में पैदा होता है विकास
> उसे जीना पड़ता है।
> सैंकड़ो सांसों में।[17]

यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया आज की 'संघर्षरत शताब्दी' की ओर संकेत करती है जिसे मेनका 'शांत मन साधक' विश्वामित्र को आन्दोलित करने के लिए उद्बोधित करती है। (पृ. 116) इससे भी स्पष्ट संकेत उस समय प्राप्त होता है जब विश्वामित्र के 'भाल पर अंकित जन-इच्छा' और 'हृदय में पल रही क्रांति' जैसे वाक्यों से कवि जनवादी चेतना का संकेत करता है। विश्वामित्र का यह रूप एक नयी उद्भावना है और पौराणिक रूप की एक पुनर्व्याख्या। दूसरी ओर मेनका के रूप में भी यही रूपान्तरण प्राप्त होता है। वह केवल इन्द्रलोक की भोग्या नहीं है, पर वह विश्वामित्र के संसर्ग से अपने को नया अर्थ देना चाहती है—

> मुझे भी मिलनी चाहिये अर्थवत्ता
> मेरे शरीर की, मेरे अस्तित्व की,
> मेरा पाप: पुण्य: विवशता
> जो कुछ भी है—
> तुम्हें समर्पित है महामुनि
> सिर्फ उसे एक अर्थ दो।[18]

इस अर्थ देने की प्रक्रिया में वह पारम्परिक पति-पत्नी के सम्बन्ध से विद्रोह करती है और केवल दूध पिलाने वाली 'मां' से भी उसे गहरा असन्तोष है, उसे चाहिये तो केवल—

मेनका को नहीं चाहिए आश्रय
पत्नीत्व और सौभाग्य
वह इन ध्रुव स्थितियों से मुक्त
एक गहरे एकांत में
बनी रहना चाहती है 'स्त्री'।[19]

क्या यह पूरा प्रसंग आज की नारी की 'अस्मिता' से नही जुड़ा हुआ है जिसमें विद्रोह और छटपटाहट की तीव्र आकांक्षा है ?

संघर्ष की भूमिका पर 'क्रान्ति' धारणा के प्रति भी एक वैचारिक गतिशीलता प्राप्त होती है। यह गतिशीलता केवल 'बाह्य' जगत तक सीमित नही है, कवि के लिए 'क्रान्ति' केवल बाह्य तथ्य नहीं है, वह 'अन्तर' का भी एक 'सत्य' है। वह व्यक्ति की आन्तरिकता से, उसकी 'अस्मिता' से जुड़ा हुआ है। अतः क्रान्ति कोई 'भीड़ का नारा नहीं है', 'वह अपशब्द का प्रयोग' भी नहीं है, इस शब्द के 'अर्थ की दिशा रक्त रंजित क्रांति' में भी नहीं है, पर इस पवित्र शब्द का एक आन्तरिक महत्व है—

इतिहास बाध्य हो गया है
कि तुम्हारे अस्तित्व की कीमत दें,
रक्त रंजित क्रांति के जवाब में
एक और क्रांति हो मन के स्तरों पर,
एक संघर्ष हो अपने आप से
अपनी पहचान पर ....।[20]

संघर्ष, क्रान्ति और जनचेतना को कवि एक त्रिकोण के रूप में लेता है, पर यहां पर यह कहना आवश्यक है कि संघर्ष और द्वन्द्व की दशाएं बहुत उभर कर सामने नहीं आयी हैं, वे अपरोक्ष रूप से ही ध्वनित होती हैं। मार्क्सवाद और वामपंथ में क्रान्ति का सम्बन्ध बाह्य जगत सापेक्ष है, उसका 'व्यक्ति' के 'अन्तर' से उतना सरोकार नहीं है। यहां पर कवि ने क्रान्ति को 'आत्मवादी' दृष्टि से भी अर्थवत्ता प्रदान की है जो व्यक्ति के शरीर और मन से परे 'आत्मा' के समुद्र में ही सत्य का साक्षात्कार करता है :

उसी मन से पाया है मैंने
आत्मबोध
जो शरीर और मन से भी परे,
आत्मा के समुद्र में पाता है एक
सत्य।[21]

इस आत्मबोध का एक प्रमुख तत्व है 'साधना' का स्वरूप जिसे इस कृति में एक नया संदर्भ दिया गया है। मेनका-विश्वामित्र के अनेक संवाद इस पक्ष को उद्घाटित करते हैं। साधना, व्यक्ति और समूह की सापेक्षता में प्रश्नों और उत्तरों को साकारता देती है। जब संघर्ष से कुछ प्राप्त न हो सके, तब उसे पाने के लिए साधना की जाती है –

> अब तक जो प्राप्त नहीं हो पाया संघर्ष से
> उसे पाने के लिए
> की गयी है साधना
> साधना किसी भी व्यक्ति और युग में
> जगा सकती है एक प्रश्न
> या खोल सकती है उत्तर।[22]

वैज्ञानिकों, कलाकारों और दार्शनिकों ने इसी 'साधना' के द्वारा नए और सार्थक प्रश्नों को जन्म दिया। विश्वामित्र के सम्मुख भी साधना और तपस्या का समस्त प्रासाद उस समय ढहता हुआ प्रतीत हुआ जब मेनका के 'रूप की ज्वाला' उनके अस्तित्व को चुनौती देने लगी। परन्तु, फिर उन्हें लगा कि रूप और साधना समानान्तर रूप से उनके अस्तित्व के दो अभिन्न अंग हैं और साधना से प्राप्त ऊर्जा से उन्होंने अपने को दोनों के लिए प्रस्तुत किया। यहां पर साधना और समर्पण में उन्हें कोई अन्तर नहीं लगा, क्यों ?

> साधना हो या समर्पण,
> दोनों का अन्तिम लक्ष्य एक है
> अपने को पाना
> या अपने से मुक्त होना,
> वह अपने से मुक्त होने के लिए
> सौन्दर्य के गुम्बज पर चढ़ गया।[23]

इस प्रसंग में विश्वामित्र का वह रूप प्रकट होता है जो तपस्या और काम (रति) को अंगीकार करता हुआ, "नए रक्त का जन्मदाता" और आत्मतत्व को अपने विकास से जोड़कर, 'एक और पुरुष' का साक्षात्कार करता है और अपने को 'अपने' से मुक्त करता है। इस प्रकार विश्व निरन्तर आगे बढ़ रहा है—एक न समाप्त होने वाली प्रक्रिया के अन्दर—

> एक चेतना है जो सब कुछ को
> अपने में घुमाकर

बना रही है विश्व
विश्व को चलने दो
बढ़ने दो
आगे
और आगे
सिर्फ आगे।[24]

यही कृति का मूल कथ्य है जो आज के वैचारिक और संघर्षरत संदर्भों को अपने अन्दर समेटे हुए है।

उपर्युक्त रचनाओं के संदर्भ में एक अन्य कृति का विवेचन अपेक्षित है जिसमें इतिवृत्त और भी कम हो गया है और वैचारिक द्वन्द्व का संयोजन अधिक तीव्र यह कृति है। 'आत्मदान' जो बलदेव वंशी द्वारा रचित एक लम्बा कविता-क्रम है।[25] इसमें अहिल्या-गौतम प्रसंग को आज के संदर्भ मे रूपान्तरित किया गया है। इस लम्बे कविता-क्रम में विचारों का द्वन्द्व, अहिल्या, इन्द्र और गौतम के त्रिकोण की सापेक्षता में विकसित हुआ है। इस रचना में अहिल्या के आत्मसंघर्ष को अनेक प्रश्नों और प्रतिवादों से जूझता हुआ दिखाया गया है जो सामाजिक मर्यादा, नारी के आत्मपीड़न तथा गौतम के पलायन आदि प्रसंगों में चरितार्थ हुआ है। इस रचना की एक अन्य विशेषता यह है कि कथा-प्रसंग को अहिल्या के आत्मकथ्य और आत्म-संघर्ष के चारों ओर संयोजित किया गया है और इस सयोजन की प्रक्रिया में इन्द्र तथा गौतम की चरित्र रेखाओं को भी उभारा गया है। राम तो अहिल्या के आत्म-संघर्ष और आत्मदान के साक्षी हैं जो उसे एक जीवन्त एवं सम्मानयुक्त 'अर्थवत्ता' देते हैं। इन चरित्र रेखाओं के साथ वैचारिक द्वन्द्व का एकसाथ निर्वाह इस कविता-क्रम को गतिशील बनाता है। 'आत्मदान' की रचनात्मकता का यह एक आवश्यक तत्त्व है।

इस कविता-क्रम में अहिल्या को 'बुद्धि' का (रात्रि) प्रतीक माना गया है जो समाज व्यवस्थापक गौतम के माध्यम से बन्दी है। अहिल्या का यह रूप पूरी कविता के अनुस्यूत है। इसके साथ गौतम तप या योग (चन्द्र) और इन्द्र भोग और व्यक्तिवादिता (सूर्य) के प्रतिरूप हैं। कवि ने इन तीनों पात्रों को प्रतीकात्मक 'व्यक्तित्व' प्रदान किया है जो किसी न किसी रूप में 'वैचारिक बंध' से जुड़े हुए हैं। अहिल्या का आत्मबोध और आत्मसाक्षात्कार बौद्धिक प्रक्रिया का ही फल है जिसके साक्षी राम स्वयं हैं—

राम साक्षी हैं
बुद्धि ने तप सिद्ध किया है

राम साक्षी हैं
रात्रि राकेशमयी हुई है।[26]

गौतम जो तप या योग के प्रतीक हैं, उन्हें तपसिद्धि, बुद्धि के द्वारा ही प्राप्त हो सकी है। इस प्रतीकार्थ के साथ अहिल्या के उस रूप का भी संकेत प्राप्त होता है जो गौतम द्वारा परित्यक्त होने से विक्षुब्ध और असंतुष्ट है क्योंकि वह मानती है कि पत्नी-प्रिया के बगैर पुरुष की सिद्धि अपूर्ण और अर्थहीन है—

भूल गए कि नहीं मिलती सिद्धि
अकेले पुरुष को
पत्नी-प्रिया का भी योग
उसमें अपेक्ष्य है
और क्या नारी के लिए पति
कभी उपेक्ष्य है।[27]

यहां पर गौतम को पुनः प्राप्त करना, एक प्रकार से अहिल्या की तपसिद्धि का सूचक है जो नारी की शक्ति को चरितार्थ करती है। यहां पर गौतम स्वयं 'शिखर से नीचे उतरे हैं' और इस प्रकार, अहिल्या का ओजस्वी एवं दीप्तमान व्यक्तित्व प्रकट होता है जिसमें दीनता एवं पश्चाताप की भावनाएं नहीं हैं।

इसके विपरीत 'इन्द्र' का रूप एक अतिचारी, व्यक्तिनिष्ठ और अपने अनुकूल व्यवस्था बनाने वाले आत्मकेन्द्रित पुरुष का प्रतीक है। अहिल्या का यह कथन इस तथ्य की ओर संकेत करता है—

किन्तु तुम निपट छली
पुरुष-वृत्ति के कपट रूप
तुम नहीं बांट सकते अब
मेरा कठिन शाप।[28]

इन्द्र का अहिल्या के प्रति अतिचार 'एक व्यक्ति का निरपेक्ष स्वार्थमूल्य या व्यक्तिनिष्ठ' और इसी से, इन्द्र का समागम जहां एक ओर अहिल्या को एक नवीन अनुभव देता है, वहीं वह इन्द्र के इस व्यक्तिवादी स्वार्थमूल्य के प्रति क्षोभ एवं घृणा से भरी हुई है।

इस कृति का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष 'आत्मदान' का स्वरूप है। आत्मदान एक प्रकार से अहिल्या का 'आत्मदान' है जिसे एक 'प्रक्रिया' के रूप में दिखाया गया है। 'आत्मदान' से पूर्व आत्मबोध आवश्यक है क्योंकि जब तक आत्मा का बोध

राम साक्षी हैं
रात्रि राकेशमयी हुई है।[26]

गौतम जो तप या योग के प्रतीक हैं, उन्हें तपसिद्धि, बुद्धि के द्वारा ही प्राप्त हो सकी है। इस प्रतीकार्थ के साथ अहिल्या के उस रूप का भी संकेत प्राप्त होता है जो गौतम द्वारा परित्यक्त होने से विक्षुब्ध और असंतुष्ट है क्योंकि वह मानती है कि पत्नी-प्रिया के बगैर पुरुष की सिद्धि अपूर्ण और अर्थहीन है—

भूल गए कि नहीं मिलती सिद्धि
अकेले पुरुष को
पत्नी-प्रिया का भी योग
उसमें अपेक्ष्य है
और क्या नारी के लिए पति
कभी उपेक्ष्य है।[27]

यहां पर गौतम को पुनः प्राप्त करना, एक प्रकार से अहिल्या की तपसिद्धि का सूचक है जो नारी की शक्ति को चरितार्थ करती है। यहां पर गौतम स्वयं 'शिखर से नीचे उतरे हैं' और इस प्रकार, अहिल्या का ओजस्वी एवं दीप्तमान व्यक्तित्व प्रकट होता है जिसमें दीनता एवं पश्चाताप की भावनाएं नहीं हैं।

इसके विपरीत 'इन्द्र' का रूप एक अतिचारी, व्यक्तिनिष्ठ और अपने अनुकूल व्यवस्था बनाने वाले आत्मकेन्द्रित पुरुष का प्रतीक है। अहिल्या का यह कथन इस तथ्य की ओर संकेत करता है—

किन्तु तुम निपट छली
पुरुष-वृत्ति के कपट रूप
तुम नहीं बांट सकते अब
मेरा कठिन शाप।[28]

इन्द्र का अहिल्या के प्रति अतिचार 'एक व्यक्ति का निरपेक्ष स्वार्थमूल्य या व्यक्तिनिष्ठ' और इसी से, इन्द्र का समागम जहां एक ओर अहिल्या को एक नवीन अनुभव देता है, वहीं वह इन्द्र के इस व्यक्तिवादी स्वार्थमूल्य के प्रति क्षोभ एवं घृणा से भरी हुई है।

इस कृति का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष 'आत्मदान' का स्वरूप है। आत्मदान एक प्रकार से अहिल्या का 'आत्मदान' है जिसे एक 'प्रक्रिया' के रूप में दिखाया गया है। 'आत्मदान' से पूर्व आत्मबोध आवश्यक है क्योंकि जब तक आत्मा का बोध

[पृ. 3 (2)], 'जीवन की सांस है कि खिचती ही चली जाती', 'हर शिला के नीचे यहां दबा है एक धमाका' तथा 'काल के प्रवाह में वही शेष रह जाता है जो सापेक्ष पुण्यमय सृष्टि का भाव-फूल है' [पृ. 5 (2)] आदि। इस प्रकार, 'आत्मदान' अहिल्या के वृहद् 'बोध' और 'दान' को एक आन्तरिकता और वैचारिकता प्रदान करता है जो रचनात्मक धरातल पर अर्थ ग्रहण करती है।

इन मिथक-काव्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसी कविताएं भी प्राप्त होती हैं जो मिथकीय चरित्रों, प्रसंगों और नामों को लेकर लिखी गई हैं। ऐसे कुछ कवि हैं—रामदेव आचार्य, रमेशचन्द्र शाह, बलदेव वंशी, ललित शुक्ल, सुमन राजे तथा विश्वम्भरनाथ उपाध्याय आदि जिनमें यदाकदा मिथकीय रूपान्तरण की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। ये मिथकीय रूप कभी-कभी कविता के प्रसंग में आते हैं तो कभी-कभी स्वतंत्र रूप में। अष्टम दशक की कविता में ये दोनों रूप न्यूनाधिक रूप में प्राप्त होते हैं। ये मिथकीय चरित्र और प्रसंग अधिकतर रामायण और महाभारत से ही लिए गए हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि 'जातिमन' इन ग्रंथों को बाह्य और आन्तरिक दोनों स्तरों पर युगों से ग्रहण करते रहे हैं जिसे विनय ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> एक रामायण मेरे भीतर
> एक महाभारत मेरे चारो तरफ।[31]

इन कविताओं का भावबोध अधिकतर मिथकीय चरित्रों और प्रसंगों की उद्‌भावनाओं में है जिनके द्वारा विद्रोह, आक्रोश, विसंगति, मूल्यहीनता, संघर्ष और व्यक्ति की अस्मिता को आज का संदर्भ दिया गया है। इन कविताओं में भाषा के विविध स्तर प्राप्त होते हैं, वह कहीं आक्रामक, कही गतिशील और कही सपाट रूपाकारों को व्यक्त करती हैं।

रामदेव आचार्य ने द्रोपदी, राधा और विश्वामित्र के चरित्रों के द्वारा आक्रोश, व्यंग्य, विरोध, समर संकल्प, अस्मिता का संकट और इतिहास की प्रक्रिया को सधी और ओजस्वी भाषा के द्वारा व्यक्त किया है। ये सभी कविताएं या तो चरित्रो के आत्मकथ्य के रूप में हैं अथवा सम्बोधन या आह्वान के स्वर में (समर संकल्प)। "एक पौराणिक वेदना" कविता में द्रोपदी के आत्मकथ्य के द्वारा विद्रोह, आक्रोश और नारी के 'वस्तु' हो जाने का तीखा एहसास है, तो दूसरी ओर समर संकल्प की दो कविताओं में अर्जुन और विश्वामित्र के प्रति सम्बोधन में युद्ध का आह्वान है। द्रोपदी का आत्मकथ्य एक तीखे अहसास का व्यंग्यात्मक विरोध है—

> मैंने कब मांगे थे पांच पति।
> पति कभी प्रेमी नहीं होते

जो प्रेमी नहीं होते हैं, कभी पति नहीं होते।

× × ×

इतिहास साक्षी है
एक मां ने अपने बेटों के भोग के लिए
एक नारी की देह के
पांच टुकड़े कर दिये थे
जिसमें केवल एक टुकड़ा औरत थी।[32]

इसी प्रकार धनंजय के प्रति सम्बोधन में कूटनीति और युद्ध के सापेक्ष संबंध को व्यंजित किया गया है—

धनंजय
शत्रुओं को स्नेही समझने का मोह
मन की क्षयग्रस्तता के अतिरिक्त
और क्या है ?
कि तुमने अपने गाण्डीव में
लयबद्ध ललकार को नहीं सुना,
कि मन के कोहरे को भेदने वाली
कृष्ण की गीता नहीं समझी।[33]

इसी संदर्भ में 'इतिहास की पुनर्रचना' कविता में कृष्ण का राधा के प्रति जो सम्बोधन है, वह रोमांटिक भाव से प्रारम्भ होकर शोषण और विद्रोह की भावनाओं को समेटते हुए, राधा के 'विरह' को एक व्यापक आयाम देता है—

राधे !
आंसू अगर इतिहास बन सकें
आदमी अगर अहसास बन सके,
तो अपने विरह को विद्रोह बन जाने दो !
राधे
एक इतिहास की पुनर्रचना का
समय आ रहा है।
महाभारत
इतिहास की अनिवार्यता बनता जा रहा है।[34]

इस कविता की अन्तिम पंक्तियां इतिहास की क्रांतिकारी चेतना को व्यक्त करती है और भाषिक स्तर पर एक सपाट सांकेतिक आवेश को लिए हुए है। इन

कविताओं से लगता है कि कवि के पास मिथिक-चेतना को ग्रहण करने की एक 'दृष्टि' है जो उसे युगानुकूल संदर्भ देने में सक्षम है।

दूसरी ओर जब हम रमेशचन्द्र शाह की कविताओं को लेते हैं, तो भाषा का एक अन्य सपाट पर व्यंजनात्मक रूप पाते हैं जो मिथकीय पात्रों तथा प्रसगों को चिन्तनशील गहरी मनोदशाओं से संयुक्त कर, उन्हें आज के संदर्भ में रूपान्तरित करते हैं। यहां पर चिन्तनशील मुद्राएं नहीं हैं, पर चिंतन पर आधारित मनोदशाओं की एक 'निजी' भाषिक संरचना है जो बहुतों से अलग है। मिथकीय चरित्रों और प्रसंगों को लेकर कवि ने आज की विडम्बनाओं को उभारने का प्रयत्न किया है। पंचवटी, दण्डक, लंका और पंपा भौगोलिक नाम होते हुए भी हमारी सांस्कृतिक चेतना के उसी प्रकार धरोहर हैं जिस प्रकार मिथकीय चरित्र और पात्र क्योंकि मिथिक चेतना में पात्र और स्थान का एकीभूत संस्कार हो जाता है। "सपने में बाल्मीकि" कविता में ये स्थान जातीय-मन के अंग होते हुए भी आज निर्वासित से लगते हैं—

लंका, ऋष्यमूक, पंचवटी
पपा, चित्रकूट, दडकवन,
पूछ रहे हैं कब टूटेगा
मेरा यह निरवधि निर्वासन।[25]

इस कविता मे बाल्मीकि स्वयं कवि का एक मिथक है। यह एक ऐसे कवि का मिथक है जो अपने इतिहास और भूगोल को मिथकीय सस्कार देकर उन्हें अमर बना देता है। बाल्मीकि आज के कवि को उसकी विडम्बनाओं की ओर सकेत कर रहे हैं तथा आज के 'अब' को भी देख रहे हैं—

होंगे राजा मुनी यती सब
वैसे ही अब भी, जैसे तब
देख चुका हूं, देख रहा हूं
काल देवता के सारे ढब।

आज का रचनाकार अपने भूगोल, इतिहास और जमीन से स्खलित होता जा रहा है—यह बात कवि कुल गुरू को कचोटती है और वे आज के कवि की श्रद्धा को आन्दोलित करते हैं :

आत्मग्लानि से पैदा होती
इस जीवित कविता को देखो.
फिर सहस्र वंदीगृहों में —

अपनी श्रद्धा का मुख लेखो ।
नहीं तुम्हें यदि मुझसे मतलब
साफ बता दो मैं घर जाऊं
बची खुची यह डोर तोड़कर
ऋषियों में शामिल हो जाऊं ॥[36]

शाह की कविताओं में प्रसंगवश समुद्र मंथन का विपर्ययमूलक प्रयोग तथा भीष्मपितामह, हिरण्यकश्यप आदि चरित्रों द्वारा आज के व्यक्ति की विसंगतियों को उभारा गया है । मंदराचल पर्वत (समुद्र मंथन) के विपर्यय के द्वारा पिसते एवं संघर्परत व्यक्ति के 'नर्क' को इस प्रकार व्यंजित किया गया है :

सुनो,
मंदराचल पर्वत केवल
एक कथा थी ।
मैं तो गले गले तक डूबा
पेर रहा हूं जनम जनम से
तुम सबका
यह नर्क ।[37]

भीष्मपितामह आज की 'कीलित शताब्दी' पर लेटे हुए, अपनी ही 'प्रेत-छायाओं से घिरे हुए' भयावह स्थिति का अनुभव कर रहे हैं जो आज के युग की 'यातना' और भविष्य पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं—

तुम्हारी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं
पितामह ! तुम घिर गये हो
अपनी ही प्रेतछायाओं से,
यह ठिठका सूर्यास्त
तुम्हारे घावों से बहता रक्त
पुता रहेगा कब तक इन
कभी से काली पड़ गयी दिशाओं पर ?[38]

शाह की उन कविताओं में भावबोध और भाषा का एक सपाट व्यंजनात्मक रूप प्राप्त होता है जो कवि के मिथकीय-बोध की भावी सम्भावनाओं को प्रकट करता है ।

आज के असंतोष और तनाव का भोक्ता आज का युवक भी है जो गति और विकास का एक मिथक होता जा रहा है जिस पर हरेक व्यक्ति अगति

का भार डालकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करना चाहता है। पार्टी, संस्था और समूह युवक को माध्यम बनाकर उसे अपने हेतु प्रयुक्त कर रहे हैं। तनाव और घेराव के दलदल में दिग्भ्रांत यह 'युवक' आधुनिक अभिमन्यु का प्रतीक-सा प्रतीत होता है जो द्वन्द्व और संघर्ष के 'व्यूह' में फंसा लगातार युद्ध करता जा रहा है। बलदेव वंशी की 'मन्यु' कविता इसी भाव को व्यक्त करती है—

मन्यु व्यूह में फंसा
चक्कर खा रहा है
वह निष्कवच हो घर से चल दिया था कुढ़ातम
प्रतिशोध में जलता
स्वचालित अग्निपिंड
कहां कहां टकरायेगा ?[39]

ये मन्यु रूपी युवक जो एक प्रकार से 'उपेक्षित घूमते स्तूप' हैं जिनकी ऊर्जा अपार है, जो एक ओर सीमाओं को तोड़ रहे हैं, तो दूसरी ओर दिग्भ्रमित दिशा-हीन अवस्था में उच्छृंखल और उद्दण्ड हो रहे हैं। दो ध्रुवों को स्पर्श करती आज के युवक की मनःस्थिति 'मन्यु' कविता में चरितार्थ होती है :

मन्यु लड़ रहा है
मन्यु बर्फ सा गल रहा है
मन्यु बाढ़ सा फैल रहा है
उद्दण्ड उच्छृंखल
मन्यु सीमाएं तोड़ रहा है।[40]

मन्यु के 'व्यूह' में फंसने का जिम्मेदार कौन है ? इसके जिम्मेदार वे ही लोग हैं जो उसे बिना बताये 'व्यूह' में भेज तो देते हैं, पर निकलने का मार्ग नहीं बता पाते हैं, शायद वे खुद निकलने का मार्ग नहीं जानते हैं, अथवा वे मार्ग बने ही नहीं जिनसे 'व्यक्ति' (मन्यु) लौट सके। सुमन राजे की ये पंक्तियां लें—

यह सच है
कि मैंने तुम्हें अभिमन्यु की तरह
चक्रव्यूह में
बिना निकलने का रास्ता बताए भेज दिया
× × ×
वे रास्ते बने ही नहीं अभी

इसलिए इस व्यूह में जाने वाले पैरों के
निशान हैं
लौटने वालों के नहीं।[41]

'मन्यु' का यह रूप आज के संघर्षशील व्यक्ति का भी प्रतिरूप है जो लगातार 'कबंध' की तरह लड़ रहा है। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की 'कबंध' कविता ऐसे ही संघर्षशील व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करती है जिसका धड़ कट गया है, फिर भी 'कबंध' उठ खड़ा हुआ है, और वह संघर्ष के आमने सामने है : विचित्र है आज के व्यक्ति की यह नियति और विडम्बना--

मेरा कबंध उठ खड़ा हुआ है
कटे सिर वाले धड़,
धाँय धाँय करने लगे हैं
-समय का रंग सुर्ख हो गया है
अब हम आमने सामने हैं
यह एक अच्छी शुरुआत है।[42]

व्यक्ति और परिस्थितियों (व्यवस्था का भी) का यह 'कन्फ्रेन्टेशन' आज की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है जिसे उपाध्याय जी ने तेज, तर्राक एवं आक्रामक मुद्रा (गुरिल्ला) से युक्त भाषिक संरचना के द्वारा व्यक्त किया है। समाज और व्यवस्था के शिकंजे व्यक्ति को कसते जा रहे हैं जिसे कवि ने तक्षक के द्वारा व्यक्त किया है :

मैं ग्रीक पुरोहित लोकून सा
समुन्दरों मरुस्थलों से
उठते हुए तक्षकों के शिकंजे में हूँ
कोई माई का लाल हो तो मुझे छुड़ाए।[43]

आठवें दशक की इन कुछ महत्वपूर्ण रचनाओं के प्रकाश में यह बात नितांत स्पष्ट होती है कि कवि, चाहे वह किसी भी खेमे का क्यों न हो, वह अपनी रचनात्मक ऊर्जा को प्राप्त करने के लिए मिथक और यथार्थ के अन्योन्य रूपांतरण को स्वीकार करता है। आज के संघर्षशील जीवन में, मूल्यों के टकराव में, व्यक्ति की अस्मिता और समूह-जन की टकराहट में तथा जीवन की विडम्बनाओं में हमारे ये 'मिथक' आज भी अपनी 'लोच-शक्ति' का परिचय देते हुये 'काल' के प्रवाह में जीवित एवं गतिशील हैं। कोई भी जातीय संस्कृति इन्हें अलग नहीं कर क्योंकि ये मिथक उसकी 'आन्तरिक संरचना' के अभिन्न अंग हैं। था इस मिथकीय बोध को और व्यापक संदर्भ देगी, ऐसी आशा है।

संदर्भ-संकेत

1. माडर्न सॉइकोलाजी— डेविड कॉक्स, पृ. 135
2. दि ऑरिजन एण्ड हिस्ट्री आफ कान्शेसनेस—इरिक न्यूमॉन, पृ. 93
3. सूर्यपुत्र—जगदीश चतुर्वेदी, भूमिका
4. वही, पृ. 49
5. सूर्यपुत्र, पृ. 79
6. वही, पृ. 151
7. वही, पृ. 2–3
8. माडर्न सॉइकोलाजी, काक्स, पृ. 144
9. वोमन मिस्ट्री, हार्डिंग, पृ. 25
10. दि आरिजिन एण्ड हिस्ट्री ऑफ कान्शेसनेस, पृ. 93
11. सूर्यपुत्र, पृ. 10
12. वही, पृ. 124
13. दि आरिजन एण्ड हिस्ट्री आफ कान्शेसनेस, न्यूमॉन—इस गोलक को 'यूरो-बोरस' की संज्ञा मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने दी है।
14. दि नेचर आफ यूनीवर्स, फ्रेड हायल, पृ. 32
15. एक पुरुष और, पृ. 13
16. वही, पृ. 22
17. वही, पृ. 22
18. वही, पृ. 115-16
19. वही, पृ. 125
20. वही, पृ. 38
21. वही, पृ. 156-57
22. वही, पृ. 79
23. वही, पृ. 85
24. वही, पृ. 159
23. यह कविता-क्रम 'कल्पना' के दो अंकों (297 तथा 298—फरवरी तथा मार्च, 1977) में प्रकाशित हुआ था जिसे यहां शामिल किया गया है।
26. आत्मदान, बलदेव वंशी, पृ. 8 (297)
27. वही, पृ. 8 (297)
28. वही, पृ. 9 (297)
29. आत्मदान, पृ. 7 (298)
30. वही, पृ. 8 (298)
31. कई मन्तराल, विनय, पृ. 75 (1980)

32. त्रयी (1) सं. डा. जगदीश गुप्त, पृ. 8 तथा 11 (1974)
33. रेगिस्तान से महानगर तक, रामदेव आचार्य, पृ. 45 (1978)
34. वही, पृ. 82
35. हरिश्चन्द्र मामो, रमेशचन्द्र शाह, पृ. 83 (1980)
36. हरिश्चन्द्र मामो, पृ. 85
37. वही, पृ. 17
38. वही, पृ. 65
39. उपनगर में वापसी, बलदेव वंशी, पृ. 90 (1974)
40. वही, पृ. 96
41. शीर्षक (त्रैमासिक, प्रवेशांक 1980) पृ. 41-42
42. कबंध—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ. 94 (1978)
43. कबंध, पृ. 62

रामकथा पर एक आधुनिक उपन्यास

नरेन्द्र कोहली का नाम जिह्वा पर आते ही एक व्यंग्यकार का बिम्ब उभर कर सामने आता है। व्यंग्यकार के रूप को अतिक्रमण कर, वे एक सशक्त उपन्यासकार के रूप में उस समय सामने आते हैं, जब वे 'रामकथा' को एक "आधुनिक" औपन्यासिक कृति के रूप में रूपांतरित करते हैं। रामकथा पर अनेक काव्य लिखे गए हैं। पर जहां तक मेरी जानकारी है रामकथा पर पहला "आधुनिक" उपन्यास है जो आज के बौद्धिक मानव को संवेदना और तर्क के धरातल पर आंदोलित करने में समर्थ हो सका है। उपन्यासकार की मिथकीय दृष्टि ही इसकी सफलता का कारण है जो उपन्यास के पांच खण्डों (दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर तथा युद्ध के दो खण्ड) में प्रतिफलित हुई है।

यहां पर प्रश्न उठता है कि कोई भी रचनाकार यदि किसी मिथक को अपने समय का संदर्भ देता है, तो उसकी कोई न कोई 'दृष्टि' अवश्य होती है। कोहली के इस उपन्यास खण्डों को पढ़ते समय एक ऐसे अनुभव से गुजरना सम्भव हुआ जो मिथकीय रूपांतरण के साथ-साथ, आज के वैचारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक संदर्भों को ध्वनित करते हुए 'रामकथा' की सांस्कृतिक अर्थवत्ता और मिथकीय "लोच-शक्ति" का भी परिचय देता है। इस दृष्टि से मिथक का एक अपना युगीन रचनात्मक संदर्भ होता है जो उसे "जीवित-स्वप्न" का रूप दे देता है। युंग ने जब मिथ को किसी भी जाति का 'जीवित स्वप्न' कहा तो परोक्ष रूप से, उसने मिथक के इसी सांस्कृतिक पक्ष की ओर संकेत किया था।[1] (माडर्न साइकोलोजी, डेविड कावस, पृ. 40)

जब कोई रचनाकार किसी भी मिथक को अपने समय का संदर्भ देता है, तो उसकी सफलता कुछ तत्वों पर आधारित मानी जा सकती है। यहां पर ध्यातव्य है कि मिथ और साहित्य (कविता भी) दोनों ही मूलतः सृजनात्मक है, और इसी तत्व के आधार पर दोनों का "संवाद" एक सार्वकालिक सत्य है। मिथ और साहित्य का

यह रिश्ता जितना आदिम और प्राचीन है, उतना ही आधुनिक और समकालीन। इस दृष्टि से रामकथा पर आधारित ये उपन्यासखण्ड मिथकीय रूपांतरण की इसी दृष्टि का परिचय देते हैं। यहां पर यह प्रश्न भी उठता है जो स्वयं कोहली जी से संदर्भ के एक सदस्य (डा. प्रकाश श्रीवास्तव) ने पूछा था कि "आज की विचारणा और चेतना को व्यक्त करने के लिए आपने रामकथा को ही क्यों लिया जबकि इसके लिये कोई भी आम व्यक्ति या आज की घटना भी सार्थक हो सकती थी।" इसका उत्तर डॉ. कोहली ने यह दिया कि जनमानस में राम जितने व्याप्त हैं, उनके माध्यम से आज की संघर्षशील जनवादी चेतना को व्यंजित करना सुलभ भी है और दुर्लभ है। दुर्लभ इसलिए कि रामकथा के सारतत्त्व को बगैर विकृत किये हम उसे उचित नया संदर्भ दे सकें। इस मत की पुष्टि दीक्षा के प्राक्कथन में भी प्राप्त होती है— "कथा का प्रख्यात रूप मुझे बांध रहा था और सामने देश-काल की घटनाएं अपना प्रतिबिम्ब खोज रही थी। और मैं यह देख-देख कर चकित था कि इस प्राचीन प्रख्यात कथा तथा मेरी समकालीन मनःस्थिति अद्भुत बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव था।" (दीक्षा, आधारभूमि) इसी संदर्भ में यह कहना भी न्यायसगत होगा कि उपन्यास में राम के चरित्र की गरिमा और उसके मिथकीय रूप को सुरक्षित रखते हुए उन्हें समकालीन जनवादी चेतना का प्रतीक बनाने का जो प्रयत्न किया है, वह अपने में एक सार्थक रूपांतरण है। जैसाकि साहित्य के संदर्भ में कभी-कभी मिथकों को विकृत रूप में (डिस्टार्सन) प्रस्तुत किया जाता रहा है, वह स्थिति इन उपन्यास खण्डों में प्राप्त नहीं होती है, पर सच तो यह है कि लेखक ने सूर्पणखा, मारीचि तथा सुग्रीव आदि के प्रसंगों को नया आयाम ही दिया है। मिथकीय कथ्य जो जाति की सांस्कृतिक अस्मिता से जुड़े हुए हैं, उनके द्वारा हम बार बार अपने को ही पहचानते हैं। मिथ की यह नयी मर्म प्रक्रिया, आज के संदर्भ में एक बौद्धिक और संवेदनात्मक प्रक्रिया है। उपन्यास के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो आज की मानवीय तर्कना को और साथ ही, उसकी आस्था को तार्किक आधार देते हैं। ऐसे कुछ प्रसग हैं " अहल्या प्रसंग, धनुष भंग, समुद्र संतरण, मारीच प्रसंग तथा सीताहरण प्रसंग आदि जिनमें मिथकीय रूपांतरण की आधुनिक 'दृष्टि' प्राप्त होती है। यदि मैं इसे दूसरे शब्दों में कहूं कि यह उपन्यास आज के वैचारिक द्वन्द्व को रेखांकित करता है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

इन उपन्यास खण्डों में जनवादी दृष्टि का एक सशक्त मिथकीय रूपांतरण प्राप्त होता है। राम का सारा व्यक्तित्व और चरित्र विकास 'जन शक्ति' को एकत्र करने में है जिसका उद्बोधन 'विश्वामित्र' करते हैं और राम उस उद्बोधन को साकार 'जनशक्ति' का रूप प्रदान करते हैं। विचार और कर्म के द्वन्द्व को विश्वामित्र इस रूप में रखते हैं—"सामान्यतः बुद्धिवादी ऋषि अपंग और कर्मशून्य हो जाता

है। वह केवल एक सूक्ष्म विचार है। इसीलिये मुझे तुम्हारी आवश्यकता पड़ती है राम ! जब तुम मेरे आदेश के अनुसार कर्म करोगे, तुम मेरे पूरक कहलाओगे। किन्तु जब तुम स्वयं न्याय की बात सोचकर, स्वतन्त्र कर्म करोगे, तो जैसा मैंने कहा तुम अवतार कहलाओगे।" (दीक्षा, पृ. 55) राम और अगस्त्य मुनि का संवाद भी विचार और कर्म के संघर्ष का संवाद है जो "संघर्ष की ओर" खण्ड में चरितार्थ हुआ है। यह संवाद जहां क्रमिक रूप से बढ़ता है, वहीं संघर्ष का विकास भी क्रमशः होता है। लेखक के शब्दों में—"प्रत्येक भेंट जैसे उस दीर्घ संवाद का एक खण्ड था—संवाद आगे बढ़ता था—विवाद होता था, अनुकूलन होता था और फिर विचारों की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण।" (संघर्ष की ओर, पृ. 265) राम और रावण का संघर्ष जनशक्ति और स्थापित राक्षसी व्यवस्था के मध्य संघर्ष था जो मूलतः विरोधी दर्शनों का संघर्ष था। राम ने विरोधी दर्शनों को आमने सामने लाकर खड़ा कर दिया और राम का विश्वास है कि "विनाश लीला तो होगी, पर आप मेरा विश्वास करें कि विनाश लीला में राक्षस पक्ष अपने अत्याचारों का दण्ड पायेगा।" (संघर्ष की ओर, पृ. 265-66) सभी ऋषि आश्रम इसी जनशक्ति के केन्द्र हैं जहां राम, सीता, लक्ष्मण और उनके अनुयायी उस शक्ति को शस्त्र प्रशिक्षण देते हैं और संघर्ष के लिए तैयार करते हैं—मानसिक एवं शारीरिक दोनों रूपों में। राम का यह कथन कि "राम मिट्टी में से सेनाएं गढ़ता है" क्योंकि वह केवल जनसामान्य का पक्ष लेता है।" इसका प्रमाण है। यह सारा प्रसंग लेखक द्वारा दिया गया एक नया संदर्भ है जो उपन्यास को आज का संदर्भ भी देता है। यदि गहराई से देखा जाए तो राम जिस वानर एवं अन्य आदिम जातियों को संगठित कर एक "जनशक्ति" का रूप देते हैं, वह असल में, विश्वामित्र और अगस्त्य के गत्यात्मक विचार-दर्शनों का ही प्रतिफलन है। पूरा उपन्यास ऋषियों, महात्माओं और मुनियों के आश्रमों को एक सामाजिक और राजनैतिक संदर्भ प्रदान करता है, तो दूसरी ओर, विचार की गतिशीलता को कथा-संयोजन में एक महत्वपूर्ण स्थान देता है। कथा की गतिशीलता और विचारों की द्वन्द्वात्मकता का समानान्तर निर्वाह, इस उपन्यास को एक विशिष्टता प्रदान करता है।

उपन्यास के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनकी नयी वैचारिक मिथकीय व्याख्या प्राप्त होती है। ऐसे प्रमुख प्रसंग हैं—अहल्या प्रसंग, अगस्त्य का समुद्र पान, धनुष यज्ञ प्रसंग, हनुमान का समुद्र संतरण, सीताहरण, सूर्पणखा और किष्किंधा प्रसंग आदि जिनके द्वारा उपन्यासकार ने रामकथा को आज का सामाजिक, राजनैतिक एवं वैचारिक संदर्भ दिया है। यहां पर मैं केवल दो प्रमुख प्रसंगों को लेना चाहूंगा क्योंकि सभी प्रसंगों का विवेचन यहां संभव नहीं है।

प्रथम अहल्या प्रसंग को लें जिसे एक नाटकीय रूप प्रदान किया गया है। विश्वामित्र द्वारा वर्णित अहल्या कथा में बुद्धिजीवियों (ऋषिगण) की निष्क्रियता

एवं भयजनित नपुंसकता का वह रूप प्राप्त होता है जो इंद्र के प्रतिचार (अहल्या प्रति) को गलत मानते हुये भी उसका विरोध करने में असमर्थ है। गौतम आश्रम में 'सम्मेलन' का आयोजन आज के सम्मेलनों की याद दिलाता है जहां ' ऐसे सम्मेलन ज्ञानोपार्जन का साधन न होकर, राजमंत्रियों, श्रेष्ठियों अथवा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने का स्वर्णावसर होते हैं।" (दीक्षा, पृ. 125)। अमितलाभ का चरित्र (उपकुलपति) इसी प्रकार का है। जो इंद्र से कुछ स्वार्थ लाभ करना चाहता है, पर वह उसमें सफल नहीं होता है।

अहल्या प्रसंग का वैचारिक रूपांतरण गौतम तथा अहल्या के सम्बन्ध को लेकर है। लेखक ने गौतम द्वारा अहल्या को शापित न दिखाकर, उन्हें अहल्या के प्रति संवेदनशील और नए कुलपति के रूप में इन्द्र को शाप देते हुए दिखाया है। उपन्यासकार ने गौतम के चरित्र के प्रति पूरा न्याय किया है, पर अहल्या के प्रति उस सीमा तक न्याय नहीं कर सके हैं। पच्चीस वर्षों तक अहल्या सामाजिक बहिष्कार के देश को पाषाणवत् जड़ तपस्विनी के रूप में इसलिये व्यतीत करती है कि वह गौतम को नए कुलपति (जनक के नए आश्रम में) के रूप में देखना चाहती हैं। अतः यहां पर भी नारी को "दिव्य" बनाकर उसकी 'बलि' ही दी गयी है। राम इस अन्याय का विरोध करते हैं और अहल्या को उसकी खोई हुई सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाते हैं। लेखक ने इस प्रसंग को अत्यन्त प्रभावशाली एवं नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। राम का यह अन्तर्द्वन्द्व उन्हें कर्म की ओर प्रेरित करता है—"गुरु विश्वामित्र उन लोगों को सीधे जनकपुर न ले जाकर, यहां क्यों लाये हैं ? सिद्धाश्रम से चलते ही उन्होंने अहल्या की कथा क्यों प्रारम्भ करदी थी ? क्या चाहते हैं गुरु ? राम स्वतंत्र निर्णय लेते हैं और अहल्या की कुटी में प्रवेश करते हैं। राम का यह "पौरुष" गौतम, सीरध्वज और सतानंद (गौतम पुत्र) की निष्क्रियता और भय को ललकारता है और एक दीर्घकालीन "विडम्बना" को सार्थकता एवं अर्थवत्ता प्रदान करता है। अहल्या राम के इस जनवादी रूप का आह्वान करती है। जब वह कहती है—"कदाचित आज तक मैं तुम लोगों की ही प्रतीक्षा कर रही थी। मैं ही नहीं, पर आज सम्पूर्ण आर्यावर्त तुम्हारे जैसे युग पुरुष की प्रतीक्षा कर रहा है। मैं अकेली ही जड़ नहीं हो गयी थी, सम्पूर्ण आर्यावर्त जड़ हो चुका है। बन्धुओं तुम उनमें उसी प्रकार प्राण फूंको, जिस प्रकार तुमने मुझमें प्राण फूंके हैं, तुम समस्त दलित वर्ग को सम्मान दो, प्रतिष्ठा दो।" (दीक्षा, पृ.191) इस कथन से राम का जनवादी रूप प्रकट होता है जो आज का प्रमुख विचार-दर्शन है जिसे मार्क्स, गांधी, लेनिन, माओ आदि ने अपने तरीके से प्रस्तुत किया है।

दूसरा प्रसंग है, हनुमान का समुद्र पार करना जिसे लेखक ने एक ... एवं तार्किक आधार दिया है। हनुमान का समुद्र संतरण (जो तैर कर पार ...

जाता है) जहां एक ओर उनके दुर्दम संघर्ष को प्रस्तुत करता है, वहीं वह सामुद्रिक विज्ञान की जानकारी भी देता है। समुद्रमार्ग में चट्टानों, वनस्पतियों और जलमग्न पर्वत शृंखलाओं का जो चित्र सामने आता है, वह हनुमान के सामुद्रिक भूगोल के ज्ञान को प्रस्तुत करता है। मैनाक पर्वत को पार करना एक कुतूहल और साहस की अनुभूति देता है तो दूसरी ओर पर्वताकार भयंकर सर्प, नागमाता सुरसा तथा चपल सिंहिका जैसे विकराल और भयंकर जल प्राणियों से हनुमान का शारीरिक एवं विवेकजन्य संघर्ष इस बात को पुष्ट करता है कि हनुमान ने लंका तक पहुंचने के लिये कितना घोर संघर्ष किया था? इसी प्रकार का संघर्ष राम को लंका तक पहुँचने के लिए तथा समुद्र पार करने के लिए करना पड़ता है। धनुष यज्ञ प्रसंग में धनुष एक विशाल यंत्र है जिसे संचालित करने के लिये राम को अकथ नाम तथा प्रशिक्षण (विश्वामित्र से) लेना पड़ता है। यही संघर्ष और विवेक का संतुलन "युद्ध" के खण्डों में भी देखा जा सकता है। जहां राम और उनकी जनवाहिनी को अकाट्य संघर्ष की ऐसी स्थितियों से गुजरना पड़ता है जहां जय और पराजय के दो छोरों के बीच में 'राम' की दयनीय दशा हो जाती है। इन युद्ध प्रसंगों में कूटनीति और राजनीति का समायोजन प्राप्त होता है। ये सभी प्रसंग 'रामकथा' के प्रति हमारी श्रद्धा एवं विश्वास को और भी ठोस आधार प्रदान करते हैं। मिथक के इस आधुनिक 'ट्रीटमेन्ट' में 'रामकथा' को विकृत नहीं किया गया है जैसाकि अक्सर मिथकों के पुनर्विवेचन में प्राप्त होता है। इस प्रकार यह 'उपन्यास' रामकथा को 'सारतत्व' (एसेंस) को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करता है और मिथकीय उपन्यास के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान देता है।

संदर्भ-संकेत

1. जयपुर स्थित अंतर अनुशासनीय संस्था "संदर्भ" में प्रथम बार डॉ कोहली 'दीक्षा' और संघर्ष की ओर के कुछ अप्रकाशित अंश पढ़े थे। परिचर्चा के दौरान यह प्रश्न उठाया गया था कि जिसका बिम्बात्मक स्मरण अब भी मेरे मस्तिष्क में है। उसी को यहां पर दिया गया है।

—

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का रचनात्मक साहित्य और समकालीन लेखन

आचार्य द्विवेदी जी की रचनाओं को पढ़ते समय अक्सर मेरा मन यह प्रश्न करता है कि क्या द्विवेदीजी के रचनात्मक साहित्य में (आलोचना में भी) ऐसा कुछ है जो समकालीन-सृजन को 'दृष्टि' दे सके जिससे उसकी सृजनात्मकता को नया आयाम प्राप्त हो सके। यहां पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि द्विवेदी जी अतीतोन्मुखी हैं, उनका भावबोध अभिजात या क्लासिकल है, इसका तालमेल समकालीन सृजन या लेखन से कैसे हो सकता है ? असल में, इस प्रकार की धारणा अवैज्ञानिक है और साथ ही रचनाकार के लिए घातक भी। स्टीफन स्पेन्डर ने अपने ग्रन्थ 'हाईलाइट्स ऑफ मॉडर्न लिट्रेचर' में यह मत प्रदर्शित किया है कि आधुनिक बोध के लिए परम्परा का सर्वथा त्याग आवश्यक है क्योंकि परम्परा और अतीत से अधिक जुड़ने पर 'आधुनिक दृष्टि' का विकास सम्भव नहीं है। यह मत अपने में एकांगी है और द्विवेदी जी की रचनाओं में इस मत को स्वीकार नहीं किया गया है। द्विवेदी जी ने अतीत को मृत या रूढ़ अर्थ में नहीं लिया है, पर अतीत और परम्परा को 'गतिशील' रूप में स्वीकार किया है जो रचनाकार को 'दृष्टि' प्रदान करती है अथवा उसके 'दृष्टि विकास' में सहायक होती है। यही नहीं, द्विवेदी जी ने यह भी स्वीकार किया है कि "पुराने का मोह सदैव वांछित नहीं होता, मरे बच्चे को गोद में दबाए रखने वाली बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती।" यही कारण है कि द्विवेदी जी के उपन्यासों और निबंधों में मिथ और इतिहास एक गत्यात्मक रूप में समक्ष आते हैं जिनके द्वारा आधुनिक भावबोध का संवेदनात्मक रूपांतरण भी प्राप्त होता है। इलियट ने कदाचित् परम्परा को सही परिप्रेक्ष्य में देखा था क्योंकि उसके अनुसार बिना परम्परा को 'पहचाने' सही अर्थ में आधुनिक हुआ ही नहीं जा सकता है। द्विवेदी जी सही अर्थ में आधुनिक थे क्योंकि परम्परा और इतिहास के प्रति उनकी दृष्टि पारदर्शी थी—एक ऐसी दृष्टि जो नये और पुराने को

'सवादिता' को सार्थक अर्थवत्ता प्रदान कर सकी। यह पारदर्शी दृष्टि का स्वरूप वाणभट्ट की आत्मकथा, पुनर्नवा, 'अनामदास का पोथा' तथा उनके निबन्धों में रचनात्मक स्तर पर देखी जा सकती है जिसमे मिथ और इतिहास का वैचारिक एवं संवेदनात्मक मथन है। यह मंथन उन्हें समकालीन बोध और आधुनिक दृष्टि से जोड़ देता है और किसी भी रचनाकार की सफलता इस बात में निहित है कि वह परम्परा को (मिथ और इतिहास) कहां तक अपने समय के अनुकूल 'अर्थ' प्रदान कर सका है ? उदाहरणस्वरूप 'पुनर्नवा' उपन्यास चौथी शताब्दी की घटनाओं पर आधारित रचना है, पर उसमे आज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल सामाजिक व्यवस्थाओं के नित नये संस्कार की बात कही गयी है—"अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा, तो एक दिन व्यवस्थाएं तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।" (पृ. 147) इस कथन का आधुनिक सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित विचारधारा से गहरा तालमेल है। इसी प्रकार 'अनामदास का पोथा' उपन्यास मे उपनिषद्कालीन आख्यान (रैक्व मुनि) को आधुनिक परिवेश मे भी रूपान्तरित किया गया है जब उपन्यास में ऋषि औपस्ति कहते हैं—"एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है, बेटा ! देखो, संसार मे कितना कष्ट है, रोग है, शोक है,दरिद्रता है, कुसस्कार है। लोग दु:ख से व्याकुल हैं, उनमें जाना चाहिए। उनके दु:ख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है।" (पृ. 59) इसमे मानवतावादी एवं तथाकथित जनवादी चेतना का स्वर स्पष्ट है जो समकालीन लेखन का प्रमुख स्वर है। यह सही है कि द्विवेदीजी को वामपथी और मार्क्सवादी आज के सदर्भ में नही कहा जा सकता है, पर उनकी दृष्टि उस विचारधारा को भारतीय परिवेश के अनुकूल ही ग्रहण कर सकी। मेरे विचार से किसी मत या वाद की पक्षधरता अपने 'प्रति' रूप मे रचनात्मकता को कुंठित ही नही करती है और साथ ही उसे एक आयामिक भी बना देती है। आज के रचनाकार के लिए द्विवेदी जी की यह पारदर्शी दृष्टि आवश्यक है जो परम्परा और इतिहास को भविष्योन्मुख 'अर्थवत्ता' प्रदान कर सके। यह सर्जनात्मक 'अर्थवत्ता' जो घटित हो रहा है या वर्तमान से 'अत्यन्त' सम्पृक्त होने से एक आयामिक होती जा रही है और साथ ही काल के व्यापक सदर्भ को (जो केवल वर्तमान नहीं है, पर वर्तमान का अतिक्रमण है) समेटने में असमर्थ है। कुछ रचनाओं को छोड़कर (जैसे धूमिल की 'पटकथा', रामदेव आचार्य की 'महाभियोग' कविता, भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' और मोहन राकेश का नाटक 'आधे अधूरे' आदि और भी नाम लिये जा सकते हैं) यह स्थिति सामान्य है।

समकालीन लेखन मे अपनी परम्परा के प्रति एक उदासीनता है जो 'नयेपन' की आयातित झोंक मे दबता जा रहा है। थोपी गयी संदर्भहीन विचारधारायें,

सामाजिकताएं और सज्ञाएं रचनाकार की सार्थक 'अस्मिता' की तलाश में बाधा ही बन रही है। यदि गहराई से देखा जाए तो द्विवेदी जी ने मिथ और इतिहास के द्वारा अपनी 'अस्मिता' को ही पहचानने का प्रयत्न किया है। समकालीन लेखन में इस 'पहचान' का अभाव है जो मिथ और परम्परा को सामयिक और भविष्योन्मुख अर्थवत्ता दे सके। नयी कविता में इस प्रवृत्ति की एक अर्थवान परम्परा अवश्य रही, पर समकालीन लेखन में इसका अभाव ही रहा है। इधर कुछ वर्षों से मिथकीय रूपांतरण से सम्बन्धित रचनाओं का आगमन हुआ है जो भावी सम्भावना की ओर संकेत करती है और साथ ही इस सत्य की घोषणा करती है कि अपनी अस्मिता को पहचानने के लिए, अपने समय को अर्थ देने के लिए तथा अपनी जाति के 'सामूहिक अचेतन' को वाणी देने के लिए मिथ और इतिहास की ठोस जमीन को कुरेदना ही होगा। आचार्य द्विवेदी ने अतीत का सार्थक उत्खनन किया है और आज के रचनाकारों ने उसे 'कुरेदना' प्रारंभ किया है। उत्खनन के लिए जिस दीर्घ श्रम साधना और चिन्तन की आवश्यकता है जिसका शायद उनके पास अभी अभाव है। मिथकीय विषयों को लेकर समकालीन लेखन में ऐसी कुछ रचनाएं आयी हैं जो रचनात्मकता के साथ भावी सम्भावना की ओर संकेत करती हैं। इन रचनाओं में मिथ के द्वारा व्यंग्य, आक्रोश, विरोध, व्यक्ति की अस्मिता, इतिहास और मानव मूल्य को आज के संदर्भ में देखा गया है। इस दृष्टि से डॉ. विनय का 'एक पुरुष और' (काव्य), जगदीश चतुर्वेदी की 'सूर्यपुत्र' (काव्य), रामदेव आचार्य की कुछ कविताएं (जैसे एक पौराणिक वेदना और अमर संकल्प, डॉ. नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर आधारित बहुचर्चित उपन्यास के चार खण्ड (दीक्षा, अवसर, संघर्ष की ओर तथा युद्ध) तथा दया प्रकाश सिन्हा का नाटक 'कथा एक कंस की' आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के तौर पर नरेन्द्र कोहली ने रामकथा को एक वैचारिक आधार देकर उसे [illegible] वेदना से जोड़ा है तो डॉ० विनय ने 'एक पुरुष और' में मेनका और विश्वामित्र के [illegible] के द्वारा ज्ञान और इतिहास-बोध को रचनात्मक संदर्भ दिया है। डॉ. विनय की कुछ पंक्तियां लें जिसमें इतिहास और विकासवाद (विज्ञान) को '[illegible]' को रचनात्मक संदर्भ दिया गया है—

इतिहास कोई देवता नहीं
अदृश्य [illegible] अपरिचित
वह मनुष्य भी नहीं
जो मर जायेगा एक दिन
उसकी धमनियों में
पैदा होता है [illegible]
उसे जीना पड़ता है
सैकड़ों [illegible] से

रामदेव की कविता 'एक पौराणिक वेदना' में द्रौपदी के आत्मकथ्य में विद्रोह और नारी के 'वस्तु' हो जाने का तीखा एहसास प्राप्त होता है :

> मैंने कब मांगे थे पांच पति !
> पति कभी प्रेमी नहीं होते ।
> जो प्रेमी होते हैं, कभी पति नहीं होते,
> इतिहास साक्षी है
> एक मां ने अपने बेटों के भोग के लिए,
> एक नारी की देह के
> पांच टुकड़े कर दिये थे
> जिसमें केवल एक टुकड़ा औरत थी ।
>
> ('एक पौराणिक वेदना')

द्विवेदी जी का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है ज्ञान-विज्ञान का संवेदनात्मक एवं रचनात्मक रूपांतरण जो समकालीन लेखन अथवा आज के साहित्य का एक ऐसा प्रेरणा-स्त्रोत हो सकता है जो आधुनिक बोध का अत्यन्त आवश्यक तत्व है । आज की रचनात्मकता केवल कल्पना और भावना का क्षेत्र नहीं है, पर उसमें ज्ञान और संवेदना का एक ऐसा सन्तुलन आवश्यक है जो रचनात्मकता को नया आयाम दे सके । द्विवेदी जी की रचनाओं में ज्ञान और पांडित्य का विलयन रागात्मक हृदय की अन्तर्धारा में प्राप्त होता है, उसमें ज्योतिष, दर्शन, धर्म, कला, समाजशास्त्र, इतिहास और विज्ञान का संवेदनात्मक मंथन प्राप्त होता है जो उनके व्यक्तित्व को क्रमशः रूपांतरित करता चलता है जिसका प्रतिफलन भाषिक स्तर पर भी देखा जा सकता है । ऐसा लगता है जैसे उनके हृदय की ज्ञान-संवेदनात्मक धारा क्रमशः बाह्य रूपाकार ग्रहण करती चलती है, अन्दर की बेचैनी क्रमशः अपना साक्षात्कार करती चलती है जो उनके उपन्यासों और ललित निबंधों में द्रष्टव्य है । आज के रचनाकार के लिए क्या यह ज्ञान और संवेदना का संतुलन आवश्यक नहीं है जिसकी जड़ें भारतीय परम्परा में हैं ? प्रसाद, निराला, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, विनय, रामदेव आचार्य, अज्ञेय, कुबेरनाथ राय, नरेन्द्र कोहली और मोहन राकेश आदि ऐसे रचनाकार हैं जिनमें यदा-कदा ज्ञान का रचनात्मक संदर्भ प्राप्त होता है । आचार्य द्विवेदी की रचनाओं में कहीं-कहीं पर ज्ञानात्मक संवेदना का एक ऐसा रूप मिलता है जिसमें ज्ञान की गहनता है, रागात्मक हृदय की व्याप्ति है, अल्हड़पन से भरी मस्ती का प्रवाह है और है विराटता और अन्तर्दर्शन की एक ऐसी अनुभूति जो उन्हें शुद्ध एवं 'तेजस्विता' से भरी भारतीय संस्कृति का 'प्रतीक' ही बना देती है । समकालीन लेखन में इस 'तेजस्विता' का अभाव है जिसका यह अर्थ नहीं है कि

सभी लेखक द्विवेदी जी हो जाएं (क्योंकि ऐसा लेखक काफी समय बाद ही होता है), पर इतना अवश्य है कि उनकी रचनात्मकता की 'दृष्टि' तो उनकी अपनी ही होगी (जो होनी चाहिए). पर उस 'दृष्टि' में यहां की परम्परा और संस्कृति की अनुगूंज, विभिन्न विचारधाराओं के मथन को समेटती हुई, साकार हो। द्विवेदी जी के ऐसे उदाहरणों का एक लम्बा क्रम उपस्थित किया जा सकता है, पर यहां यह संभव नहीं है; केवल एक-दो उदाहरण ही लें। निम्न उदाहरण में पृथ्वी के जन्म (सौर मण्डल) की वैज्ञानिक उत्पत्ति, जीव तत्व का विकासवादी स्वरूप और अन्त में विकासवाद (डार्विन, बर्गसां और अरविंद की विचारधाराओं का एक सुन्दर समन्वय) की यह मान्यता कि विकास की अन्तिम परिणति मानव नामधारी विशिष्ट प्राणी है जो जड़ प्रकृति का अतिक्रमण है अथवा एक ऊर्ध्वगामी शक्तित्व है—

"न जाने किस पुण्य क्षण में किसी अज्ञात काल के अज्ञात मुहूर्त में हमारा यह ग्रह-पिण्ड (पृथ्वी) सूर्य-मण्डल से टूट गया था, उस समय वह ज्वलंत गैसों से भरा हुआ था (सृष्टि उत्पत्ति का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त) शुरू से अन्त तक केवल ताप से परिपूर्ण धरित्री खण्ड के किस कण में जीव तत्व वर्तमान था, कोई नहीं जानता। समस्त जड़-शक्ति के मस्तक पर पैर रखकर जब वह मृदुल तृणांकुर के रूप में पैदा हुआ तो पृथ्वी के इतिहास में अघटित घटना घटी थी। जीव तत्व की ऊर्ध्वगामिनी 'वृत्ति' आज तक समस्त जड़-तत्वों को परास्त करके विराज रही है। (विकासवादी दृष्टि का ऊर्ध्वगामी रूप जिसे अनेक विकासवादी चिंतक भी 'ली काम्टे द् नू तथा हक्सले' मानते हैं जीव तत्व विकसित होता गया एक कोश से अनेक कोशों में, सरल संघात से जटिल समूह के रूप में और अन्त में, उसने मनुष्य के रूप में अपने को प्रकट किया। मनुष्य उसकी अन्तिम परिणति है" (विचार प्रवाह, पृ. 208)। कोष्ठक में दिए गए वाक्य मेरे हैं जो द्विवेदी जी के बहुआयामी ज्ञान को प्रदर्शित करते हैं। यहां पर ज्ञान का एक साहित्यिक रूप प्राप्त होता है जो संवेदनात्मक भाषा की सृष्टि करता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उनके उपन्यासों (अनामदास का पोथा, पुनर्नवा आदि) से भी लिये जा सकते हैं जहां उनकी रचनात्मक दृष्टि व्यक्ति के अन्दर के देवता को सत्य मानती है, लोक परम्परा और ज्ञान को जोड़ती है, पुराने और नये गठबंधन कर दोनों को नया संस्कार देती है। इतिहास के आकाश में चील की तरह चमकती चीज पर झपट्टा मारती है, आधुनिक 'प्रतिवाद' को मानव-कल्याण के लिए अशुभ मानती है और ज्ञान को कर्म में परिणित कर उसे 'मानव-मूल्य' के रूप मे ग्रहण करती है। समकालीन लेखन में यह प्रतिवाद 'दृष्टि' का जोरशोर है जिसको ओर द्विवेदी जी का साहित्य बार-बार आगाह करता है। आज का साहित्य 'आम आदमी' और जन-चेतना की पीड़ा और आकांक्षाओं को चित्रित करता है, पर द्विवेदी जी 'आम आदमी' का 'स्लोगन' और

उसको लेकर नारेबाजी नहीं करते हैं, पर उनकी रचनात्मकता का केन्द्र है "आदमी" जो 'आम आदमी' को भी अपने अन्दर समेटे हुए है, वह कहीं आम आदमी से व्यापक और वृहत्तर अवधारणा है। उनका साहित्य आदमी की ऊर्ध्वगामी चेतना का साहित्य है जिसमें ज्ञान-विज्ञान का गहरा रचनात्मक संदर्भ है। द्विवेदी जी की भाषिक संरचना इस रचनात्मकता को अपने स्तर पर प्रकट करती है। मेरा यह मत है कि आज के लेखन की भाषिक संरचना द्विवेदी जी के ललित निबंधों के अधिक निकट है, पर उसका 'तेवर' और उसकी संरचना द्विवेदी जी से अधिक तीखी और आक्रमणकारी है। कदाचित् यह आज की स्थितियों और भावबोध के लिए आवश्यक भी है जहां भाषा एक 'हथियार' का रूप लेती जा रही है।

मुझे ऐसा लगता है कि द्विवेदी जी और समकालीन लेखन का ऐसा समन्वय स्थल है जो विनय की निम्न पंक्तियों में 'मिट्टी' और 'आकाश' के सांकेतिक अर्थ में प्रकट होता है। बात कविता के संदर्भ में होते हुए भी उसकी 'अर्थवत्ता' समस्त साहित्य के लिए भी है—

स्वर और शब्द
अपने आप
अर्थ देते हैं
कविता समझने के लिए
सिर्फ मिट्टी को उठाकर
आकाश की तरफ
देखना होता है

कई अन्तराल

डा० रामविलास शर्मा का भाषा-चिंतन

डॉ. रामविलास शर्मा का मूल्यांकन अधिकतर आलोचक के रूप में ही हुआ है, उनके भाषाविद् रूप को यदा-कदा प्रक्षेपित किया गया है. वह भी सामान्यतः साहित्य आलोचना के संदर्भ में। इस लेख में शर्मा जी के भाषा चिंतन को एक समग्र एवं व्यवस्थित रूप से विवेचित करने का प्रयत्न किया जाएगा। यह भाषाई चिंतन उनकी अनेक कृतियों में बिखरा हुआ है, पर उनकी तीन कृतियां इस चिंतन को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है, वे हैं—भाषा और समाज, भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (भाग 1 और 3)। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु, निराला, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य शुक्ल पर उनकी आलोचनाएं भी यदा कदा उनके भाषा चिंतन को साहित्यिक संदर्भ प्रदान करती है, पर उनका आधार उपर्युक्त तीन कृतियां ही हैं क्योंकि इनमें व्यक्त जो भाषा विषयक विचार है, उन्हीं की पृष्ठभूमि में उनका साहित्यिक मूल्यांकन भी गतिशील होता है। यहां पर मैं उनके विशुद्ध भाषा-चिंतन को ही लूंगा। उसके उस पक्ष को नहीं जो तकनीकी एवं व्याकरणिक हैं, आवश्यकतानुसार उसका संकेत अवश्य हो सकता है। इसके अन्तर्गत भाषा का उद्गम एवं विकास, जातीय भाषा का रूप, भाषा और संस्कृति तथा ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी द्वन्द्वात्मकता के आधार पर भाषा का विवेचन ये सभी तत्व भाषा के उस रूप को स्पष्ट करते हैं जो डा. शर्मा के भाषा चिंतन के प्रेरक एवं मूल तत्व हैं।

-

डॉ. शर्मा ने भाषा की उत्पत्ति में जिस दृष्टिकोण का सहारा लिया है, वह समाज सापेक्ष दृष्टिकोण है, और इस दृष्टि में मनोविज्ञान दर्शन, नेतृत्व तथा आदिम मानसिकता (शिशुमानसिकता) का सहारा लेकर उन्होंने भाषा की उत्पत्ति को एक स्वयं प्रेरित घटना माना है, और यह घटना बुद्धि सापेक्ष न होकर सामाजिक उत्पादन और वितरण के स्वतः स्फूर्त तरीकों के द्वारा होती है। इसके फलस्वरूप

मानव के नए सम्बन्ध विकसित होते हैं, उसकी इच्छा या योजना के अनुसार नहीं, बल्कि सामाजिक विकास के नियमों के अनुसार होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य सोचकर योजनानुसार भाषा नहीं रचता है।[1] आदिम मानव का ध्वनि संकेत (जो शिशु व वनमानुष में भी प्राप्त होता है) ही क्रमशः वस्तु या भाव संकेत को जन्म देता है यह प्रक्रिया भाषा की उत्पत्ति का आदिरूप है। इसमें मात्र उत्पादन या आर्थिक उपादानों का योग ही नहीं है, पर मेरे विचार से वह एक मानसिक या प्रागतार्किक अवस्था है। इसी के साथ ये ध्वनि संकेत किसी न किसी आदिम संवेग से सम्बन्धित होते हैं। अतः ये ध्वनि संकेत मात्र बाह्योपरक नहीं हैं, पर वे अतिरिक्त भी हैं—यह तथ्य डॉ. शर्मा के 'फ़ोमवर्क' में शायद नहीं आता है। यह सही है कि भाषा की उत्पत्ति मूर्त या गोचर पदार्थों से होती है, और यह मूर्त चिंतन क्रमशः अमूर्त या सूक्ष्म चिंतन की ओर अग्रसर होता है। मानव एक ऐसा प्राणी है जो 'होमोसिम्बालिकस' (प्रतीक निर्माता) है जिसका अर्थ यह हुआ कि मूर्त और अमूर्त चिंतन अन्योन्याश्रित है, यह बात दूसरी है कि प्राथमिक मूर्त चिंतन अपेक्षाकृत कम सूक्ष्म हो। इस संदर्भ में पावलाव का यह मत उचित है कि भाषोत्पत्ति के लिए (मानव में) मस्तिष्क और शरीर की विशेष प्रकार की रचना आवश्यक है जिसके द्वारा शरीर के विशेष अवयव ध्वनि उत्पन्न करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि मात्र परिवेश और प्राणी की आवश्यकता ही भाषा रचना का स्त्रोत नहीं है, पर अपेक्षित मानसिक एवं शारीरिक विकास भी आवश्यक है। अतः भाषा मात्र सामाजिक क्रिया नहीं है जैसा कि डॉ. शर्मा का मत है,[2] पर वह व्यक्तिगत क्रिया भी है। भाषा के विकास में व्यक्ति और समूह दोनों का महत्व है, अथवा यों कहा जा सकता है कि भाषा का विकास इन दोनों का एक द्वन्द्वात्मक विकास है।

भाषा का विकास, डॉ. शर्मा के अनुसार एक ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। भीतर और बाहर दोनों प्रकार के अन्तर्विरोध समाज की संरचना में प्राप्त होते हैं, भाषा का विकास भी इन दोनों तरह के अन्तर्विरोधों को सामने रखकर समझा जा सकता है।[3] इस संदर्भ में डॉ. शर्मा जैन-दर्शन के 'अनेकांतवाद' को भाषा विकास के मूल में मानते हैं, क्षणिकवाद को नहीं। भारतीय दर्शन में क्षणिकवाद एक धारा है जिस प्रकार अनेकांतवाद। अनेकांतवाद द्वन्द्वात्मक-दर्शन है जो विकास को द्वन्द्वात्मक एवं गतिशील मानता है। संसार स्थिर भी है परिवर्तनशील भी, अतः किसी वस्तु को केवल एक दृष्टिकोण से देखना गलत है। यदि संसार में कोई चीज़ स्थिर न हो, तो समाज के सदस्य एक दूसरे की बात को न समझें, पर कुछ शताब्दियों के बाद संभव है कि नयी संतति अपने बाप-दादों की बात न समझे। संसार की अन्य प्रक्रियाओं के समान भाषा का एक सश्लिष्ट प्रवाह होता है, उसकी एक सापेक्ष निरन्तरता होती है। डॉ. शर्मा ने समाज के बाह्य अन्तर्विरोधों और साथ ही आंतरिक विरोधों को एक साथ लेकर, श्रम विभाजन, वर्ग-भेद, आर्थिक शोषण,

और यहां तक कि जाति का दमन-इन सबके प्रभाव एवं द्वन्द्व से भाषा को एक ऐसे 'माध्यम' के रूप में स्वीकार किया है जो सामाजिक विकास के साथ चलती है। यह विकास उन्नति और अवनति के परे नहीं है, पर उसी के साथ है। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस विकास में भाषा के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तित होते चलें, यह कदापि आवश्यक नहीं है। भ्राता, भाई, बदर, बिरादर—ये सभी ध्वनि-प्रतीक एक दूसरे से मिलते जुलते हैं, इनमें से कौन अधिक विकसित है, और कौन कम—इसका निर्णय निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि अमुक रूप भाषा की ध्वनि प्रकृति के अनुकूल या प्रतिकूल है। *इसी प्रकार व्याकरण रूपों में भी परिवर्तन होता है। यह अवश्य है कि कुछ भाषाओं* में धातु-प्रत्ययों से नए शब्दों को गढ़ने की शक्ति होती है, और कुछ में यह क्षमता कम होती है। यहां पर डॉ. शर्मा फ्रांज बोआस से सहमत हैं जो यह मानता है कि ऐसी भाषाएं जो धातुओं से नए शब्द बनाने में सक्षम हैं, वे शब्द उधार लेने नहीं दौड़ती।[4] मेरे विचार से भाषा का विकास यह स्पष्ट करता है कि उधार के शब्द भी भाषा में आते हैं क्योंकि हरेक भाषा अपने में पूर्ण रूप से सक्षम नहीं होती है, शर्त यह है कि ये आयातित शब्द कहां तक आपकी अपनी भाषा की ध्वनि एवं सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल हैं। इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रिम नियम की आलोचना करते हुए डॉ. शर्मा ने यह माना है कि ग्रिम के ध्वनि नियम अटल हैं, पर ध्वनि भी परिवर्तित होती है. यहां तक कि किसी समाज विशेष की भाषाई संस्कृति के अनुसार ध्वनियों की विशेषताओं के काम में आती है और नहीं भी आती है।[5] भाषा का यह विकास द्वन्द्वात्मक है और अनेकांतवादी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ. शर्मा का भाषा चिंतन यांत्रिक भौतिकवादी न होकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है। यहां पर चेतना के रूप को भी सक्रिय एवं उसकी रचनात्मक भूमिका को माना गया है जो द्वन्द्वात्मक है, यांत्रिक नहीं। मानव समूह भाषा की रचना चेतना के क्रियात्मक रूप के द्वारा करता है। डॉ. शर्मा का मत है कि चेतना की रचनात्मक क्षमता का निदर्शन मानव की भाषा है। सामूहिक स्तर पर मानव चेतना जैसे क्रियाशील होती है, उसका निदर्शन भाषा की रचना है। भाषा की रचना मनुष्य ही करते हैं, पर वैसा वे समूह के स्तर पर करते हैं। यह भाषा और समाज की द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया है। इस बिन्दु पर एक महत्व-पूर्ण तथ्य की ओर संकेत प्राप्त होता है। भाषा और समाज विकास के नियम सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र हैं, इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाज विकास के नियम भाषा विकास पर पूर्णरूप से लागू नहीं किए जा सकते हैं। 'भाषा और समाज दो भिन्न वस्तुएं हैं, एक ही वस्तु के दो नाम नहीं हैं। पूंजीवादी समाज में वर्ग है, उनका शोषण है उसका यह अर्थ नहीं है कि यह सारी प्रक्रिया भाषा में ज्यों की त्यों

घटित होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक संरचना (आधार) पर बनी हुई ऊपरी संरचना से भाषा की स्वतंत्र रचना है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संस्कृति की आंतरिक संरचना। यह कदापि आवश्यक नहीं है कि आधार (आर्थिक) के बदल जाने पर भाषा और संस्कृति भी पूर्णरूप से बदल जाएं। यहां पर डॉ. शर्मा मार्क्सवादी धारणा को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते हैं जिस रूप में कुछ परम्परावादी एवं रूढ़िवादी मार्क्सवादी। इस दृष्टि से भाषा एक संस्कृति है—उसकी एक गत्यात्मक प्रक्रिया। भाषा, इसी से दृश्य जगत से जितनी सम्बन्धित है, उतनी ही अदृश्य और आध्यात्मिक जगत से। वह अनेक स्थानों पर बाह्य का अतिक्रमण भी करती है। इस प्रकार भाषा और संस्कृति का अन्योन्य सम्बन्ध है क्योंकि संस्कृति के विभिन्न रूपों की रचना भाषा ही करती है अथवा उसका वह एक महत्वपूर्ण उपकरण तो अवश्य है। डॉ. शर्मा ने तो यहां तक माना है कि भाषा की ध्वनि प्रकृति और भाव प्रकृति को किसी भी समाज की सांस्कृतिक विशेषताएं समझी जानी चाहिए। ये विशेषताएं ऐसी बद्धमूल होती हैं जो हजारों वर्षों तक कायम रहती हैं। यही कारण है कि भाषाओं में हमे इतना भेद दिखाई पड़ता है।[7]

डॉ. शर्मा के भाषा चिंतन में जातीय भाषा के स्वरूप पर विशेष बल दिया गया है जो किसी भी जाति की सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को बिम्बित करती है। जातीय भाषा किसी भी जाति की अस्मिता को पहचानने का सबल माध्यम है।

जातीय भाषा का गठन एवं विकास कैसे होता है। यह एक दीर्घ परम्परा है जो पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न अनेक जातियों के गठन से होता है। सबसे पहले बोली का क्रमिक विस्तार होता है जो क्रमशः जातीय भाषा का रूप ग्रहण करती है। बोली के आधार पर ही परिनिष्ठित भाषा का विकास होता है। उदाहरण के तौर पर लदन की बोली (जो व्यापार केन्द्र था) तुरन्त जातीय भाषा के रूप में सर्वत्र स्वीकृत नहीं हुई। आक्सफोर्ड की अंग्रेजी भी काफी मान्य रही। यह अंतर चला नहीं और व्यापारिक केन्द्र लंदन की बोली ही जातीय भाषा के रूप में विकसित हुई। यही बात आगरे-दिल्ली की हिन्दी उर्दू मिली हुई बोली का था जो क्रमशः जातीय भाषा के रूप में विकसित हुई। इसी प्रकार पेरिस की बोली ही क्रमशः जातीय भाषा बनी। यहां पर डॉ. शर्मा का एक महत्वपूर्ण कथन है कि जातीय भाषा जितनी लिखित रूप में परिनिष्ठित दिखाई देती है, उतनी उच्चारण मे नहीं होती।[8] इस जातीय भाषा के गठन एवं विस्तार में अनेक उपभाषाओं और जनपदीय बोलियों का योगदान रहता है, अतः जातीय भाषा का रूप एकांतिक नहीं होता है, वह एक संश्लिष्ट एवं जैविक प्रक्रिया है। यह भी देखा गया है कि विभिन्न धर्मों के मानने वाले भी एक जाति भाषा का प्रयोग करते हैं। मध्यकाल मे हिन्दी

या किसी भारतीय भाषा में तुर्की, पश्तो, फारसी आदि के शब्द मिलते थे, तो इसका यह अर्थ है कि भिन्न जातियों के मेल से एक जातीय भाषा का गठन हो रहा था। स्थिति तो यह प्राप्त होती है कि फारसी और तुर्की में हिन्दी शब्दों का प्रयोग हो रहा था। मोहम्मद गजनवी के लिए यह प्रसिद्ध था कि उसने अपनी मुद्रा पर संस्कृत शब्द भी अंकित किए थे। तुजुके जहांगीर में अनेक हिन्दी के शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। जैसे हाथियों से खींची जाने वाली तोप को गजनल, जहांगीर को भेंट में दिए जाने वाले हाथी का नाम 'रन रावत' या 'पंच-कुंअर' था। इससे यह स्पष्ट होता है कि जातीय भाषा का गठन एक सतत् गतिशील समन्वयकारी प्रक्रिया है। इसी संदर्भ में डॉ शर्मा के अनुसार उर्दू और अंग्रेजी जातीय भाषा नहीं हो सकती है, इसका कारण यह है कि उर्दू का मूल शब्द भंडार भारतीय न होकर अरबी फारसी का है, इसी से वह हिन्दुस्तान जाति के निकट नहीं है। यह एक सीमा तक सही है क्योंकि अब फिर उर्दू (मध्यकाल की तरह) हिन्दुस्तानी शब्द भंडार को भी ग्रहण करने लगी है, पर गति काफी धीमी है। सच तो यह है कि उर्दू हिन्दी की प्रतिष्ठित बोली है, और दोनों का सम्बन्ध मध्यकाल से सदैव रहा है।

डॉ. शर्मा ने जातीय भाषा के प्रसंग में समाजवादी एवं जनतांत्रिक व्यवस्था को, आज के संदर्भ में विशेष महत्व दिया है। इस व्यवस्था में भाषा "जन" के लिए होती है जिसमें श्रमिक वर्ग शामिल है। जातीय भाषा की दृष्टि से उन्होंने जो साहित्य समालोचनाएं प्रस्तुत कीं, उनमें भारतेन्दु, महावीर प्रसाद, द्विवेदी तथा प्रेमचन्द के युग में जिस भाषा का विवेचन प्रस्तुत किया है वह जातीय भाषा का एक गत्यात्मक रूप है। द्विवेदी जी की तरह डॉ. शर्मा की यह मान्यता है कि व्याकरण भाषा की वृद्धि का अवरोधक है। शब्द-समूह का नाम भाषा है, शब्दों के उत्पन्न होने के बाद व्याकरण उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु, द्विवेदी एवं प्रेमचन्द-निराला की रचनाएं जातीय भाषा को विकसित करती हैं, और उनके शब्द समूह अनेक स्रोतों से आए हैं। डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव ने अपने एक लेख में डॉ. शर्मा के इस पक्ष का अच्छा विवेचन किया है[9] और उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि डॉ. शर्मा ने इस ऐतिहासिक नवीनता के समाजशास्त्र एवं सौंदर्य-शास्त्र का सम्यक अन्वेषण किया है। इसी संदर्भ में एक अन्य महत्वपूर्ण बात जिसका संकेत पहले भी किया जा चुका है. वह यह है कि साहित्य युग को समझने के लिए आर्थिक सम्बन्धों को जानना आवश्यक है, लेकिन साहित्य उसकी छायामात्र नहीं है।[10] डॉ. शर्मा की यह दृष्टि साहित्य तथा कला को एक व्यापक मानवीय परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है। मेरे विचार से साहित्य की जातीय भाषा बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ के द्वन्द्व से विकसित होती है जो वस्तुगत सामाजिक चेतना को आत्मगत संवेदना में रूपांतरित करती है। डॉ. शर्मा ने जातीय भाषा से बहुआयामी विस्तार

(मगही, पंजाबी, उर्दू, मराठी, गुजराती, आदि से प्रभावित हिन्दी) को "भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी" के 3 खण्डों में विश्लेषित एवं सम्बन्धित किया है, वह जातीय भाषा (हिन्दी) के व्यापक-फलक की ओर संकेत है। साहित्य और संस्कृति उसी 'फलक' को, भाषा के द्वारा रेखांकित करते हैं।

डॉ. शर्मा के भाषा चिंतन में (जातीय भाषा के संदर्भ में भी) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है—शब्दों का आदान प्रदान। शब्दों की यह आदान प्रदान की प्रक्रिया सामान्यत: भाषा की ध्वनि प्रकृति तथा भाव-प्रकृति के अनुसार ग्रहण एवं रूपांतरित होती है। भाषा की भी अपनी एक "पाचन" शक्ति होती है जो अनेक स्रोतों से शब्दों को लेती है, अत: यह प्रक्रिया भी शब्द और अर्थ के अनेकांतवादी (द्वन्द्वात्मक) सम्बन्ध को रेखांकित करती है। शब्द भंडार किसी भी भाषा की गति एवं स्वभाव को प्रकट करते हैं। डॉ. शर्मा ने इस तथ्य का एक अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है जो यह तथ्य प्रकट करता है कि "किसी भाषा का शब्द-भंडार उसे बोलने वालों के जातीय चरित्र का द्योतक होता है।" (पृ 423–भाषा और समाज) यह जातीय चरित्र इस बात मे समाहित नहीं है कि कोई भाषा अंधाधुंध शब्दों को लेती जाएं, बिना यह सोचे कि जातीय अस्मिता के वह अनुकूल है या प्रतिकूल। अंग्रेज कहते हैं कि उनकी भाषा में जर्मन, लेटिन और फ्रांसीसी शब्द सबसे अधिक हैं, इसलिए वह सबसे समृद्ध भाषा है। इस पर योरूप के विद्वान हंसते हैं। एक अंग्रेज विद्वान सेल्डन का मत है कि "हमारे पास जितने शब्द हैं उतने विचार नहीं है, एक ही बात के लिए आधे दर्जन से ज्यादा शब्द हैं। शब्द कोई अनाज या धन नहीं है जिसका ढेर लगा दिया जाए।" शब्द को अपना बनाने के लिए सीखना होता है, अपना बनाने का अर्थ है उसका व्यवहार कर सकना। कुछ शब्दों का व्यवहार सरल होता है, कुछ का कठिन। अतः महत्व इस बात का नहीं है कि अमुक भाषा मे शब्दों की संख्या कितनी है, महत्व इस बात का है कि ये शब्द किन विचारों एवं भावों के प्रतीक हैं, उन्हें वे सरलता से व्यक्त कर सकते हैं या नहीं? इस दृष्टि से शब्दों का आदान प्रदान दो स्तरों पर होता है—एक समानता के स्तर पर और दूसरे असमानता के स्तर पर। डॉ. शर्मा का यह मत है कि समानता के स्तर पर जो विनिमय होता है, वह भाषा के जातीय चरित्र को विकसित करता है, और जो विनिमय असमानता (शोषक-शोषित) के स्तर पर होता है, उससे यह हो सकता है कि भाषा का जातीय रूप संकट मे पड़ जाए। हिन्दी के साथ कुछ इसी प्रकार का घटित हो रहा है क्योंकि हम अंग्रेजी शब्दों को जातीय चरित्र के अनुकूल ग्रहण न कर, उन्हें उच्च स्तर के रूप में ग्रहण कर रहे हैं। अंग्रेजी में भी में भी उपनिवेश के अनेक शब्द हैं, पर वे निम्न स्तर के द्योतक हैं। अंग्रेजी में लेटिन एवं फ्रांसीसी शब्द उच्च स्तर के माने गए हैं, क्योंकि वे शासक वर्ग के द्वारा प्रयुक्त किए जाते थे।[11] हम जब अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं (शासक वर्ग

एवं बौद्धिक वर्ग भी) तो वे उच्च स्तरीय मनोभावों को प्रकट करते हैं। डॉ. शर्मा ने इन दोनों प्रकार के शब्दों का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है, जैसे अंग्रेज, 'महाराजा' शब्द का प्रयोग न कर (किंग के स्थान पर), फ्रांसीसी का 'सॉवरेन' शब्द प्रयोग करता है। उपनिवेश का शब्द निम्न स्तर का माना गया। इस विस्तृत विवेचन के बाद डॉ. शर्मा का यह कथन विशेष महत्व रखता है—"यदि दूसरी भाषाओं से हम उचित मात्रा में शब्द लें, उनका रूप-विकार अपने नियमों के अनुसार करें, उन्हें अपने मूल शब्दों का स्थान न लेने दें, तो इससे भाषा समृद्ध होती है।" (पृ. 436) दूसरों से उधार का माल लेकर कोई जाति यह ठसक दिखाएं कि हम महान हैं, पूर्ण विकसित हैं—यह स्थिति भाषा पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। इस मनोवृत्ति के द्वारा भाषा के जातीय चरित्र का हनन ही नहीं होता है, पर जाति की अपनी "अस्मिता" को बचाने का संकट भी उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द की और भाषा की एक अपनी संस्कृति होती है जो अर्थ शृंखलाओं का निर्माण करती है क्योंकि शब्द और अर्थ का सापेक्ष एवं अनेकांतवादी सम्बन्ध है जिसका संकेत मैं ऊपर कर चुका हूं।

भाषा का शब्द भंडार अनेक स्रोतों से निरन्तर बढ़ता रहता है, विशेषकर सम्पर्क भाषा का। जनपदीय, क्षेत्रीय तथा आदिम जातियों की बोलियों के अनेक शब्द भाषा के शब्द भंडार की वृद्धि करते हैं। डॉ. शर्मा ने आर्य भाषा केन्द्र और हिन्दी शब्द तंत्र के अन्तर्गत हिन्दी शब्द रूपों की प्राचीनता, उनका तद्भवीकरण तथा जनपदीय आदान प्रदान का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह भाषा के शब्द भंडार और उसकी निर्माण प्रक्रिया को समक्ष रखता है।[13] इसका पूर्ण विवेचन यहां संभव नहीं है क्योंकि यह विषय तकनीकी भी है, और इस निबंध के विषय के कुछ बाहर है। भाषा चिंतन की दृष्टि से मेरी दृष्टि में इसका इतना ही महत्व है कि शब्द और अर्थ का जो गहरा सम्बन्ध है, उसका (भाषा) जो गत्यात्मक रूप है, वह उभर कर सामने आता है। इस प्रकार डॉ. शर्मा ने भाषा-विज्ञान और भाषा-चिंतन को एक दूसरे से सम्बन्धित कर, भाषा दर्शन का महत्वपूर्ण विकास किया जो भाषा के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पक्ष को रेखांकित करता है।

संदर्भ-संकेत

1. भाषा और समाज, पृ. 64–65
2. वही, पृ. 408
3 वही, पृ. 425–426
4. देखें—फ्रांज बोआस की पुस्तक "जनरल एन्थ्रोपालॉजी, पृ. 135–136

5. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी (भाग 3), पृ. 320–22
6. वही, पृ. 328–329
7. भाषा और समाज, पृ. 408
8. वही, पृ. 265
9. दृष्टि और भाषा निबंध जो डॉ. सत्यनसिंह द्वारा संपादित ग्रंथ "आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा" में संग्रहित है, पृ. 286–288
10. डॉ. शर्मा का लेख "प्रगति और परम्परा" से
11. भाषा और समाज, पृ. 431
12. भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी, पृ. 66–86 (खण्ड 1) में शब्दतंत्र का विवेचन दर्शनीय है।

जन-संस्कृति का मिथक

प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्तन अपने मिथक की कल्पना करता है। इस दृष्टि से मिथक का सम्बन्ध केवल आदिम मानसिकता से नहीं है, पर उसका सम्बन्ध आज से भी है। अतः यह कहा जा सकता है कि नए विश्वासों तथा ज्ञान के नये क्षितिजों के विकास के साथ, नए मिथक का सृजन होता है और पुराने मिथकों का नया विवेचन एवं रूपान्तरण होता है। समाजशास्त्रीय विचारक मेलिनोवस्की का मत है कि "किसी भी विश्वास, रीति या अनुष्ठान के बदल जाने पर उससे सम्बद्ध मिथ भी समाप्त हो जाता है।" (लोक साहित्य और संस्कृति, दिनेश्वर प्रसाद, से उद्धृत, पृ. 31) यह मत एकांगी है क्योंकि पुराने मिथक विश्वास या रीति के बदल जाने पर भी जाति के अवचेतन में गहरे पैठे रहते हैं, वे ही मिथक समाप्त होते हैं जो नये संदर्भों की माग को पूरा नहीं करते हैं अथवा उनकी 'लोच' या रूपान्तरण शक्ति समाप्त हो जाती है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य मे मिथक का एक सांस्कृतिक महत्व होता है जो उसे जाति का 'जीवित स्वप्न' बना देता है।

इस प्रकार, आधुनिक मिथकों का स्वरूप प्रत्ययात्मक या अवधारणात्मक अधिक है। जहां तक प्राचीन या आदिम मिथकों का प्रश्न है, वे अपेक्षाकृत अवधारणात्मक कम होते हैं क्योंकि उनमें, कथा का अंश (या फिक्शन) अधिक होता है। इस दृष्टि से आज के मिथकों को 'धारणाकृत-मिथकों' की संज्ञा दी जा सकती है। इतिहास, विज्ञान, जन-संस्कृति के मिथक इसी कोटि में आते हैं। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि मिथक, चाहे वे आदिम हों या आज के, सबमें फिक्शन या प्रभामण्डल का अंश अवश्य वर्तमान रहता है, केवल 'मात्रा' का अन्तर हो सकता है। फिक्शन का यह चर्तुदिक आलोक-मण्डल जो किसी धारणा, वस्तु या व्यक्ति को चारों ओर से आवेष्टित कर क्रमशः उसे एक प्रकार की 'अर्थवत्ता' या 'दिव्यता' प्रदान करता है। धार्मिक मिथिक चेतना की तरह यह 'दिव्यता' अलौकिक या निर्वचनीय नहीं है, पर यह अलौकिकता उसके अवधारणात्मक रूप में मानी जा सकती है। यही कारण है कि आज के मिथकों मे इतिवृत्त का अंश काफी कम हो गया है,

पर है अवश्य। जनसंस्कृति के मिथक, इतिहास और विज्ञान के मिथक, दर्शन और के मिथक, इतिवृत्त के इसी 'रूप' को व्यंजित करते हैं।

अतः आधुनिक मिथकों का सम्बन्ध ज्ञान के गत्यात्मक रूप से है। कैसिरर ने ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत तर्क या बुद्धि के साथ मिथक और प्रतीक को आवश्यक माना है। इसी के आधार पर दो प्रकार की समानान्तर मानसिक प्रक्रियाओं को माना गया है—प्रथम मिथिक चेतना और दूसरी दार्शनिक चेतना (लैंगवेज एण्ड मिथ, कैसिरर, पृ. 35), प्रथम प्रक्रिया (मिथिक) सघनन और संश्लेषण की क्रिया है और दूसरी (दार्शनिक) विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक। सत्य में, भाषा में ये दोनों प्रक्रियाएं एक साथ चलती हैं। यही नहीं, भाषा और उसमें प्रयुक्त प्रतीकों और मिथकों के द्वारा एक ऐसी भाषा का सृजन होता है जो ज्ञान और संवेदना के नए आयामों को समेटने में सक्षम होती है। अतः भाषा की मूल प्रकृति 'मिथकीय' होती है, यह सभी प्रकार के मिथकों के लिए सत्य है। इस दृष्टि से आज के कुछ मिथक विकसित हो रहे हैं जैसे सृष्टि-मिथक, अतिमानव, जन-संस्कृति, मार्क्सवादी तथा आधुनिक हीरो के मिथक—जो ज्ञान और संवेदना के नवीन विकास से संबंधित हैं। इन सभी के चारों ओर क्रमशः प्रभामण्डल (इतिवृत्त या रूप) एकत्र होता जा रहा है जो उन्हें मिथकीय रूप प्रदान करते जा रहे हैं।

आधुनिक मिथकों के स्वरूप को लेवी स्त्रास के गठनात्मक विज्ञान के द्वारा समझा जा सकता है जिसके अनुसार मानव का चिन्तन अपने मूल रूप में गठनात्मक है, और विज्ञान के समान, मिथक में भी यह चिन्तन एक गठनात्मक प्रक्रिया का परिचय देता है। इस प्रकार मिथ की भाषा संस्कृति का अभिन्न अंग है। प्रत्येक संस्कृति अपने अनुसार मिथक का सृजन करती है। यहां पर लेवी स्त्रास का यह मत कि "मिथक की भाषा संस्कृति के अन्य रूपों से भिन्न है" पूर्ण सत्य नहीं है। परन्तु, दूसरी ओर यह एक सत्य है कि अनेक आधुनिक मिथकों का विकास संस्कृति के विभिन्न रूपों (यथा विज्ञान, दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र आदि) से एक 'संवाद' की दशा में प्राप्त होते हैं और नये अर्थ रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। सत्य में, ये मिथक मानव-संस्कृति में अर्थ-संप्रेषण की एक व्यवस्था है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मिथक किसी भी संस्कृति का ऊपरी ढांचा नहीं है, वरन् वह उसका एक आंतरिक गठनात्मक ढांचा है। मिथक की यह 'आंतरिकता' उसे ऐसी अर्थवत्ता प्रदान करती है जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए एक 'व्यवस्था' को जन्म देती है, तथा जातीय-मनस् को ऊर्जा एवं गठन प्रदान करती है। विकास हो या संकट—संस्कृति की इन दोनों दशाओं में, मानव की आशा और प्रेरणा, संघर्ष और प्रगति, उसके मिथकों के द्वारा संकेतित होती है। (नेतृत्व तथा समाज दर्शन,

जेवयूज एलल, भाग 2, पृ. 74 अनूदित) इस प्रकार, काल क्रम में मानव और मिथक एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इस तरह, काल की सापेक्षता मे मिथक का रूपांतरण होता है।

इस संदर्भ में जनसंस्कृति के मिथक का विवेचन ऐतिहासिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि मे किया जा सकता है क्योकि प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्तन अपने मिथक का सृजन करता है। इस ऐतिहासिक परिवर्तन के मुख्य तत्व हैं—प्रजातान्त्रिक, अधिनायकवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी, गांधीवादी विचार-दर्शनों का योगदान, तो दूसरी ओर वैज्ञानिक मूल्यों तथा विचारों का सम्यक् प्रभाव। जनसंस्कृति का मिथक इस ऐतिहासिक परिवर्तन की सूचना देता है तो दूसरी ओर इतिहास के प्रति एक नए दृष्टिकोण को रेखांकित करता है। इस दृष्टि से इतिहास अब मात्र तिथिक्रम एवं राजाओं की घटनाओं का वर्णन नही है, वरन 'वह' एक गत्यात्मक विचार-दर्शन है जो मिथ की सृष्टि कर रहा है। अब इतिहास स्वयं पाप या पुण्य का निर्णायक है। मध्यकालीन दैवी सत्ता का स्थान्तरण अब इतिहास ने ले लिया है। इतिहास अब एक 'विचार' या 'मूल्य' का रूप लेता जा रहा है। जब हम यह कहते हैं कि 'इतिहास ही बनाएगा' या 'इतिहास साक्षी है', तब हम एक प्रकार से मूल्य कथन करते हैं, अथवा इतिहास को 'मूल्यवत्ता' देते हैं—उसे 'नियति' के रूप मे स्वीकार करते हैं। इससे एक अन्य तथ्य यह प्रकट होता है कि अब इतिहास एक धर्मनिरपेक्ष—मिथ हो गया है। सच तो यह है कि इतिहास को धर्मनिरपेक्ष बनाकर हमने सब कुछ बदल दिया है। (नेतृत्व और समाज दर्शन, जेवयूज एलल का लेख, पृ. 77) इतिहास अब एक 'प्रत्यय' है जो स्थिर अवधारणा नहीं है।

इतिहास का यह परिवर्तित रूप, जहां तक जन संस्कृति का प्रश्न है, आधुनिक 'हीरो' या नायक की भी परिकल्पना करता है। प्रत्येक युग की अपनी 'विश्वास प्रतिमाएं' होती हैं। ये 'प्रतिमाएं' अनेक व्यक्तियों, समूहों या जातियों की प्रेरणा स्रोत बन जाती हैं। इन विश्वास प्रतिमाओ का रूप मूलतः 'धारणाकृत मिथक' का होता है जो मानव के अचेतन और उपचेतन में क्रमशः अपना स्थान बना लेती हैं। ये सामाजिक और मानसिक प्रक्रियाएं एक दूसरे की पूरक होती हैं और क्रमशः यह प्रक्रिया 'हीरो' या 'नायक' की भावना को साकार करती हैं। वास्तव में, अधिकांश हीरो के मिथक उसी समय अपना रूप क्रमशः विकसित करते हैं जिनका इतिहास अर्थयुक्त, प्रतीकात्मक और युग के व्यापक संदर्भों को अपने अन्दर समेटने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार के हीरो का एक अपना संदर्भ होता है जो इतिहास की किसी न किसी द्वन्द्वात्मक अवस्था को रेखांकित करते हैं। मार्क्स, गांधी और माओ (लेनिन भी) का रूप कुछ इसी प्रकार का है। ये व्यक्ति अपने समय को अर्थवत्ता प्रदान कर सके और क्रमशः 'मिथ' का सृजन कर सके। ऐतिहासिक संदर्भ में प्रजातन्त्र,

समाजवाद, साम्यवाद और तकनीकी विकास ने इन मियकों का सृजन परोक्ष रूप से किया और क्रमशः उनका महत्व, मिथकीय संदर्भ को भी अपने चारों ओर एकत्र करने लगा। इनके चारों ओर जो 'प्रभामण्डल' क्रमशः एकत्र होता जा रहा है, वह इन्हें एक 'मिथक' का रूप देता जा रहा है। इस तथ्य का एक सुन्दर विश्लेषण बर्ट्रेन्ड रसल की पुस्तक 'हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलासफी' में दिया गया है जहां उन्होंने इसाई धर्म/ज्यूडीवाद और मार्क्सवाद के अनेक तत्वों की समानता की ओर संकेत किया है जो एक प्रकार से, मिथक सृजन की प्रक्रिया को सामने रखता है तो दूसरी ओर यह स्पष्ट करता है कि मिथक सृजन एक जटिल एवं जैविक प्रक्रिया है जो अपने चारों ओर अनेक मिथकीय तत्वों को (प्रभामण्डल का रूप) एकत्र करती रहती है।

मार्क्स, गांधी और माओ आदि अब व्यक्तिमात्र नहीं रह गए हैं, पर वे 'प्रतीक' बन गए हैं। व्यक्ति जब क्रमशः प्रतीक बनने लगता है, तो वह मिथक की शनैः शनैः सृष्टि करने लगता है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए मैं तुलनात्मक रूप में मार्क्सवाद और ईसाई धर्म या ज्यूडीवाद के उन तत्वों की ओर संकेत करूंगा जो मिथकीय रूपान्तरण को स्पष्ट ही नहीं करते हैं, पर तुलनात्मक रूप से समान मिथकीय तत्वों की ओर संकेत भी करते हैं। ईसाई धर्म में 'ईश्वर' और मार्क्सवाद में 'इतिहास की द्वन्द्वात्मकता' का समान महत्व है। ईश्वर एक निरपेक्ष सत्ता है तो इतिहास भी एक ऐसी ही निरपेक्ष सत्ता है जिसकी ओर मैंने प्रारम्भ में ही संकेत किया था। जहाँ तक पैगम्बर और मसीहा का प्रश्न है, धर्म के क्षेत्र में 'ईशु' का मसीहा रूप स्पष्ट ही है, पर मार्क्सवाद में मार्क्स ही 'पैगम्बर' का रूप ग्रहण करता जा रहा है और लेनिन मसीहे के रूप में माना जा रहा है। 'मसीहा' का अवतरण जिस प्रकार ईसाई धर्म में चेतना या क्रान्ति का सूचक है, उसी प्रकार साम्यवाद के लिए 1917 की क्रान्ति नई चेतना का प्रतिरूप है। धर्म का पुरोहित वर्ग जिस प्रकार नियामक और नियंता का रूप है, उसी प्रकार मार्क्सवाद का नियामक और नियंता साम्यवादी दल है। यही नहीं, दोनों के मिथक अन्ततः एक 'यूटोपिया' का निर्माण करते हैं जहां मानव पहुंचना चाहता है, पर शायद पहुँच नहीं सकता है। फिर भी वह 'स्वप्नलोकदर्शी' है, यही तो उसकी जिजीविषा का प्रमाण है। ईसाई धर्म में यह यूटोपिया स्वर्ग की अवधारणा में निहित प्राप्त होती है, तो मार्क्सवाद में साम्यवादी राष्ट्रसंघ की धारणा में। इस पूरी स्थिति को इस प्रकार रखा जा सकता है—

ईसाई धर्म	मार्क्सवाद
1. ईश्वर	द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
2. पैगम्बर	मार्क्स
3. मसीहा	लेनिन

4. मसीहा का अवतरण = 1917 की क्रांति
5. पुरोहित वर्ग = साम्यवादी दल
6. स्वर्ग = साम्यवादी राष्ट्रसंघ

कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया हमें बौद्ध धर्म और गांधीवाद में भी दृष्टिगत होती है। बौद्ध धर्म मे दुःखवाद को सत्य का रूप माना गया है तो गांधीवाद मे 'राम' को सत्य का परम रूप स्वीकार किया गया। बौद्धमत में बुद्ध को पैगम्बर का रूप माना गया है तो गांधी को अवतार या पैगम्बर के रूप मे स्वीकार किया जाने लगा है। मिथकीय प्रक्रिया में बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य और गांधी की विश्वास प्रतिमाएं इसी रूप में विकसित हो रही हैं अथवा काफी सीमा तक हो चुकी हैं। जिस प्रकार बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी आनन्द को बनाया, उसी प्रकार गांधी ने नेहरू को अपना विश्वासी 'उत्तराधिकारी' स्वीकृत किया। बौद्ध धर्म में विहार या मठ का जो महत्व रहा है, वही महत्व गांधीवाद में 'आश्रमों' का है जिसके स्वरूप में 'मठ' की सी केन्द्रीयता और वर्जनाएं नही है। बौद्ध धर्म में मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया गया तो गांधीवाद में 'स्वराज्य' या 'रामराज्य' को स्वीकार किया गया। यही नही, जिस प्रकार बौद्ध धर्म राजनीति को संचालित करता रहा है, कुछ इसी प्रकार गांधीवाद आज की राजनीति को (नकारात्मक एवं सकारात्मक रूप मे) प्रभावित किए हुए है। अहिंसा के तत्व दोनों में समान हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म और गांधीवाद की मिथकीय सरचना में समानता देखी जा सकती है।

जन संस्कृति का मिथक 'नायक' का सृजन भी करता है जहां तक साहित्य और कला का प्रश्न है। समर्थ रचनाकार कभी-कभी मिथकीय कोड की सृष्टि करते हैं और नायक या हीरो की संघर्षशील एवं यथार्थमूलक प्रतिमा का सृजन करते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का 'होरी' (गोदान उपन्यास), शरत का देवदास तथा मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस आदि ऐसे ही बिम्ब और प्रतीक हैं जो मिथकीय प्रकार के हैं। यहां पर 'व्यक्ति' प्रतीक बन जाता है और अन्ततः एक 'विचार' का रूप ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार जन-संस्कृति का मिथक आज के द्वन्द्वात्मक युग का विचार-दर्शन भी कहा जा सकता है। उन्नीसवी शताब्दी में इस मिथक का आरम्भ माना जा सकता है जिसका क्रमिक विकास बीसवीं शताब्दी तक होता रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'जन' (मॉस) शब्द 'समूह', 'गुट' या 'मॉब' से कहीं व्यापक अर्थ देता है। जन-संस्कृति का मिथक एक ऐसा गत्यात्मक प्रत्यय है जिसके विकास में अनेक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का हाथ रहा है, तो दूसरी ओर वैचारिक द्वन्द्व के धरातल पर अनेक विचारकों और दार्शनिकों का योगदान रहा है। यहां पर यह स्वीकार करना कि केवल मार्क्स, लेनिन या गांधी ने ही इस मिथक

के विकास में योगदान दिया है एक भ्रामक और अधूरी अवधारणा होगी। सच तो यह है कि इन विचारकों के अतिरिक्त अनेक अन्य विचारक एवं चिंतक भी हैं जिन्होंने जनवादी संस्कृति के मिथक को अर्थवत्ता प्रदान की है।

यहां पर 'जन' शब्द एक विशेष अर्थ प्रदान करता है जो वैज्ञानिक विकास, उद्योगवाद, प्रजातंत्र, सर्वहारा, मध्यवर्ग, समानता, स्वतन्त्रता और न्याय जैसे 'प्रत्ययों' एवं विचारणाओं का संगुंफित गत्यात्मक रूप है। इन सभी तत्वों ने न्यूनाधिक रूप से जन-संस्कृति के मिथक को एक ऐसा आकार और स्वरूप प्रदान किया जो विचार और कर्म के धरातल पर मानवीय क्रियाओं को एक अर्थवत्ता प्रदान करती है, तो दूसरी ओर मानव की सर्जनात्मक शक्तियों को एक नया आयाम प्रदान कर रही है। यह 'जन' शब्द केवल एक 'विचार' है, एक ऐसा विचार दर्शन जिसने केवल राजनीति और अर्थनीति को ही प्रभावित नहीं किया है, पर साहित्य, कला, दर्शन, धर्म और अन्य मानवीय क्रियाओं को भी रचनात्मक एवं वैचारिक स्तर पर प्रभावित किया है।

यहां पर आकर एक अन्य तत्व का विवेचन आवश्यक है। टी. एस. इलियट, लीविस आदि विचारकों ने समूह और 'इलीट' संस्कृति की बात की है जो उनके अनुसार व्यक्ति का एक ऐसा स्रोत है जहां से (विशिष्ट या इलीट) वह प्रेरणा लेता है। (कल्चर एण्ड सोसायटी, विलियम्स, पृ. 313) इससे यह स्पष्ट होता है कि 'इलीट' और समूह का एक सापेक्ष सम्बन्ध है और जहां पर भी यह 'इलीट' समूह से कट जाता है, वहां जनवादी चेतना का एक स्वस्थ विकास सम्भव नहीं है। यहां पर मशीन या यंत्र ने भी अपना योगदान दिया। यही कारण है कि जनवादी मिथक के विकास में समूह, इलीट, व्यक्ति और कामगर (श्रमिक) सबका एक समष्टि योगदान है। यहां पर मशीन या यन्त्र ने भी अपना योगदान दिया। संप्रेषण माध्यमों के विकास के कारण जनवादी मिथक का विकास इसलिए सम्भव हुआ कि इन माध्यमों ने 'विचार दर्शनों' को 'जन' में प्रेषित किया और इसका प्रभाव यह पड़ा कि जनवादी मिथक युग की आकांक्षा को रूपायित कर सका। अनेक विचारकों का यह भी मत है कि मशीन के कारण संस्कृति का अमानवीयकरण हुआ और व्यक्ति एक मशीन के पुर्जे के समान हो गया। मानव का यह अवमूल्यन यांत्रिकता की देन है जो जनवादी मिथक की एक ऐसी विसंगति है जिसको ओर साहित्यकार, कलाकार और दार्शनिक काफी चिन्तित हैं। परन्तु दूसरी ओर, यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसे नकारा भी नहीं जा सकता। इस दृष्टि से जन संस्कृति का मिथक जहां एक ओर 'जन' की आकांक्षा का उद्घोष है, वहीं उसे 'व्यक्ति' की अस्मिता को भी सुरक्षित रखना है जो भविष्य ही बता सकेगा।

जनवादी मिथक के विकास में जहां एक ओर यांत्रिकता और तकनीक ने सकारात्मक योगदान दिया, वहीं उसने नकारात्मक पक्ष की ओर संकेत किया।

यांत्रिकता और तकनीक के अत्यधिक प्रभाव से 'जनवाद' का अस्तित्व तो मुखर हुआ, पर दूसरी ओर उसने व्यक्ति के मूल्य को अपेक्षाकृत कम किया। कला और साहित्य, धर्म और दर्शन व्यक्ति की इस 'अस्मिता' के प्रति जागरूक है और यही कारण है कि 'आन्तरिकता' के बगैर जन-संस्कृति का मिथक एक पक्षीय होता जा रहा है। यहां पर बर्ट्रेन्डर सेल का यह मत काफी सीमा तक सत्य प्रतीत होता है कि यंत्र और तकनीक ने विज्ञान के 'शक्तिमूल्य' को विकसित किया है जो विज्ञान का केवल एक पक्ष है। विज्ञान का एक अन्य पक्ष उसका वैचारिक या प्रेम मूल्य है। *(वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि, रसेल, पृ. 32)* इसका फल यह हुआ कि अजनबीपन और एकाकीपन जनवादी मिथक का एक ऐसा अंग हो गया जो उसके नकारात्मक पक्ष को ही उद्घाटित करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जनसंस्कृति मिथक का भावी विकास इन दोनों छोरों को कहां तक एकाकार एवं समन्वित कर सकेगा, इस पर आधारित होगा। यह मात्र भावी संभावना है जिसकी ओर युग-दर्शन गतिशील हो रहा है।

इस जनवादी मिथक के विकास में जनतांत्रिक मूल्यों और विचारों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रजातन्त्र और मानवतावाद के विचार दर्शन ने अपने सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति का जनतांत्रीकरण (डिमोक्रेटाइजेशन आफ कल्चर) करने में सहयोग दिया और इस योगदान में शिक्षा का भी एक प्रकार से विशेष हाथ रहा क्योंकि परोक्ष रूप से इस जनतांत्रीकरण में शिक्षा का भी जनतांत्रीकरण हुआ। ट्रेड यूनियन, पूंजीवाद का विरोध, सर्वहारा और मध्यवर्ग का उदय तथा आर्थिक वितरण इन सभी शक्तियों ने एक साथ मिलकर जनसंस्कृति के मिथक का निर्माण किया। यहां पर इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि जनवादी मिथक का विकास केवल सर्वहारा वर्ग का उदय नहीं है, पर उपर्युक्त सभी तत्वों का उसके विकास में योगदान है। एलन स्विंगवुड ने सर्वहारा वर्ग के उदय को जनवादी मिथक का केवल एक मात्र तत्व माना है, वह पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। यदि गहराई से देखा जाए तो जनवादी मिथक का विकास पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध तथा उसके अन्तर्विरोधों का फल है और जनतांत्रिक मूल्यों की क्रमिक स्थापना है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति के 'जनतांत्रीकरण' को ऐतिहासिक नियतिवाद के द्वारा ही समझा और विश्लेषित किया जा सकता है जिसमें साहित्यिक तथा अन्य प्रकार की पढ़ने और अध्ययन करने की प्रवृत्तियां भी काफी सीमा तक शामिल हैं। इस दृष्टि से साक्षरता का एक महत्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है, क्योंकि इसके बगैर व्यक्ति (शिक्षित) की चेतना स्वयं समूह, समाज और वर्ग से अपने सम्बन्ध को उचित प्रकार से स्थापित नहीं कर सकेगी। यही कारण है कि बगैर 'जन' के शिक्षित हुए प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता है, केवल उसका 'आभास' ही होता है। यह स्थिति विश्व के अनेक देशों में देखी जा सकती है।

आज के सन्दर्भ में इस प्रकार का प्रजातंत्रीकरण जहाँ आज की संस्कृति को एक नया रूप दे रहा है वहीं वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मानवीय ज्ञान के क्षेत्रों को भी गतिशीलता प्रदान कर रहा है। इसी के विपरीत आज के विश्व में प्रजातंत्र की शक्तियों से एक द्वन्द्वात्मक विरोध उन शक्तियों का है जो प्रजातांत्रिक मूल्यों के विकास में बाधा उत्पन्न कर रही हैं। अधिनायकवाद तथा इसी प्रकार की व्यवस्था तथा तन्त्र जनवादी मिथक के विकास में व्यवधान अवश्य उपस्थित कर रहे हैं, पर इस सत्य के बावजूद भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसे देशों मे भी 'जनवाद' एक अन्तर्निहित शक्ति या अन्तर्धारा के रूप मे प्रवाहित प्राप्त होता है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो उन्नीसवीं शताब्दी की 'मॉव' संस्कृति (समूह) क्रमशः बीसवीं शताब्दी की जन या मॉस संस्कृति को विकसित करने मे सहायक रही है। यह संक्रमण अनायास नहीं हुआ है, पर कामगर या सर्वहारा वर्ग के उदय के साथ यह संक्रमण घटित हुआ है। (दि मिथ आफ दि मॉस कल्चर, स्विंगवुड, पृ. 118) यह संक्रमण ही जनवादी समाज एवं संस्कृति की रचना में सहायक हुआ जिसने अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों और प्रत्ययों का विकास किया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जनवादी मिथक का आधार व विकास वर्गसंघर्ष और वर्ग प्रभुत्व माना जा सकता है। इसी चेतना ने पूंजीवाद के प्रभुत्व को ललकारा और उससे संघर्ष किया। इटली, फ्रांस, इंगलैण्ड और रूस, जर्मनी आदि देशों में इस सामूहिक विचार-दर्शन ने पूंजीवाद को चुनौती दी और वह चुनौती बीसवीं शताब्दी में अपना गतिशील रूप प्रकट कर सकी। यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस चुनौती का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और बीसवीं शताब्दी मे जनवादी मिथक के अनेक आयाम क्रमशः स्पष्ट एवं विकसित होने लगे। समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद, मार्क्सवाद और माओवाद आदि ऐसे ही आयाम हैं जिन्होंने समष्टि रूप से जनवादी मिथक के विकास मे अपना योगदान दिया। कभी कभी मिथक सृजन में इतिहास की शक्तियां कार्य करती हैं जैसाकि हमे जनवादी मिथक के विकास में प्राप्त होता है। अतः स्विंगवुड का यह कहना कि 'मिथक इतिहास का विनाश करता है अथवा इतिहास को वाष्पीकृत करता है", पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। मेरा ऐसा मत है कि मिथक इतिहास बन जाता है जब वह जनमानस मे एक विचार' और प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। जन-संस्कृति का मिथक ऐसा ही 'इतिहास मिथक' है जो रचनाकार और विचारक दोनों को प्रभावित एवं प्रेरित कर रहा है। आज का रचनाकार इसी मिथक से लगातार 'जूझ' रहा है और उसे ज्ञान-संवेदन के धरातल पर वाणी प्रदान कर रहा है। अतः जनसंस्कृति का मिथक आज के युग का एक प्रमुख गतिशील विचार-दर्शन है।

— शी बाग़री ...

समकालीन कविता और आम आदमी

समसामयिक दृश्यपट पर जो कविता का चित्र उभर कर आ रहा है, वह बहुत कुछ राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि आज की कविता (और साहित्य भी) इन स्थितियों की प्रतिक्रिया और उनका जायजा व्यंग्यात्मक एवं सपाट रूपाकारों के द्वारा व्यक्त कर रही है। यही कारण है कि तथाकथित 'आम आदमी' का आक्रोश समकालीन कविता की एक मुख्य प्रवृत्ति है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आम आदमी की अवधारणा क्या है? क्या आम आदमी के अन्तर्गत निम्न वर्ग, मध्यम या निम्न मध्यम वर्ग ही आते हैं? अथवा यह 'शब्द' एक मिथक का रूप लेता जा रहा है? ये कुछ मूलभूत प्रश्न हैं जो इस शब्द के साथ जुड़े हुए हैं।

कविता के संदर्भ में आम आदमी का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि सामान्य रूप से कवि किस वर्ग से आया है? आज का कवि मध्य या निम्न मध्य वर्गों से आया हुआ है। ये सभी कवि जिस आदमी का चित्र साकार करते हैं, वह चित्र या प्रतिमा 'आम आदमी' की । इसे यदि मार्क्सीय शब्दावली में कहूं तो यही सर्वहारा वर्ग है, जिसमें केवल मजदूर और श्रमिक ही नहीं पर किसान, क्लर्क, शिक्षक, मध्यवर्गीय नारी तथा वे सभी व्यक्ति आते हैं, जो शोषण की प्रक्रिया में पिस रहे हैं। सर्वहारा शब्द पारिभाषिक शब्द है और हर पारिभाषिक शब्द की नियति उसका रूढ़ हो जाना है, अतः मैं सर्वहारा शब्द के स्थान पर 'शोषित वर्ग' शब्द को भारतीय संदर्भ में अधिक प्रासंगिक एवं अर्थवान मानता हूं। इसका प्रमुख कारण यह है कि उपर्युक्त सभी वर्ग शोषित वर्ग के अन्तर्गत ही आते हैं, चाहे उनके शोषित होने की प्रक्रिया में अन्तर हो। यहां तक कि जीवन और परिस्थितियों विषमता और विडंबना से जूझता हुआ 'आदमी' किसी न किसी रूप से का आदमी है। इस दृष्टि से धूमिल, जगूड़ी, रामदेव आचार्य, मनोज

वंशी, रणजीत आदि जितने भी समकालीन कवि हैं, उनकी कविताओं में इसी शोषित वर्ग के आदमी की तस्वीर उभर कर आती है। उदाहरणस्वरूप—

यह ठीक है कि समय सबको अपने दांत मार रहा है
लेकिन घाव और पीड़ा का समाज
केवल घरेलू आदमी ढो रहा है। (नाटक जारी है—अगूडी)

शोषित वर्ग के आदमी का एक अन्य चित्र सतीश वर्मा की इन पंक्तियों में दृष्टव्य है—

मृत्यु को तुमने छानकर
परखनली में बन्द कर लिया है
ताकि जब चाहो
हम पर आसानी से छिड़क सको।

(सिलीपिंग)

यहां पर एक बात प्रामाणिकता को लेकर उपस्थित होती है कि समकालीन रचनाकारों में मजदूर तथा किसान वर्ग का योगदान उतना नहीं है जितना समाज के अन्य वर्गों का और इसी से इन वर्गों का (मजदूर और किसान) प्रतिनिधित्व केवल अनुभव तथा प्रेक्षण के आधार पर ही प्राप्त होता है। इसे मैं कोई हेय दृष्टि से नहीं देखता हूं, क्योंकि रचनाकार जो भी लिखता है वह सब कुछ भोगा हुआ नहीं होता। वह अनुभव तथा संवेदना के धरातल पर रूपांतरित किया हुआ भी होता है। भारतीय संदर्भ की यह विडम्बना है कि मजदूर वर्ग शिक्षा के अभाव तथा परिस्थितियों के कारण वह भूमिका रचनाकार की हैसियत से अदा नहीं कर सका, जो अन्य वर्गों ने की है। अतः जो सर्वहारा क्रांति की बात करते हैं उन्हें साम्यवादी ही होकर नहीं सोचना है, पर उपर्युक्त भारतीय संदर्भ को भी ध्यान में रखना है। इसी से, साहित्य कर्म में प्रामाणिक अनुभव तथा भोगे हुए प्रामाणिक अनुभव को जरा अलग करके देखना होगा। तब यह बात साफ नजर आ जायेगी कि आम आदमी का जो भी चित्र सामने आ रहा है वह उपर्युक्त दोनों प्रकार के अनुभवों की एक मिश्रित अभिव्यक्ति है, जिसमें प्रेषित अनुभव का संवेदनात्मक रूपांतरण अधिक हुआ है।

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में आज की कविता को कालांकित कविता की भी संज्ञा दी गई है। "जो हो रहा है" से सीधे जुड़ने वाली कविता आज की कविता है, जिसका सीधा सम्बन्ध वर्तमान से है, और वह भी वर्तमान को प्रवाही रूप से। 'समकालीन कविता की भूमिका' नामक प्रतिनिधि संकलन के विचारोत्तेजक संपादकीय लेख में डॉ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने काल को गत्यात्मक मानते हुए भी

वर्तमान के भूगोल में ही उसे सीमित कर दिया है। जबकि काल की अवधारणा केवल वर्तमान नहीं है. वह अतीत और भविष्य को भेदने वाली दृष्टि है। काल एक सापेक्ष रेखीय प्रत्यय है जिसका सापेक्ष सम्बन्ध दिक् से है। अतः काल की अवधारणा गत्यात्मक है और वह मात्र "जो घटित हो रहा है" वह नहीं है। रचनाकार काल और दिक् की गतिशीलता को पकड़ना चाहता है और इस अर्थ में वह काल का रूपांतरण करता है. यह रूपांतरण रचना प्रक्रिया का एक अंग है और जो घटित हो रहा है, उसकी अंतर्भेदी पकड़ से ही काल का रूपांतरण संभव है।

काल की सापेक्षता में ग्राम आदमी की जो भी तस्वीर उभर कर आती है, वह कहीं न कहीं हमारी अपनी भी तस्वीर होती है। अपने से यह जुड़ जाने का अहसास कम से कम इस बात का प्रमाण है कि यह ग्राम कहा जाने वाला आदमी और कुछ नहीं 'मैं' ही हूं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो ग्राम आदमी कभी भी इससे पहले इतने व्यापक रूप में साहित्य के क्षेत्र में अवतरित नहीं हुआ। आदि तथा मध्यकाल में ग्राम आदमी सामंतीय और सांप्रदायिक मतवादों के कारण पृष्ठभूमि में ही रहा, हां, संतों तथा भक्तों में उसका वह स्वतन्त्र और संघर्षरत रूप वहां पर अप्राप्य है जिसके दर्शन हमें आधुनिक और समकालीन कविता में प्राप्त होते हैं। यही नहीं समकालीन कविता की भाषा विद्रोह और तनाव की भाषा है, उसका मुहावरा भी 'ग्राम' है. उसमें नयी कविता के समान बनावट नहीं है और न इसमें छायावादी आभिजात्यपन है, जैसे बोलो तुमने हमें क्यों धोखा दिया ?

> हमारे कुए का पानी हमारा पसीना है
> हमारा खून है,
> जिसे तुम बहाते हो, महज इसलिए कि
> घड़ा तुम्हारा है।
>
> —(ऋतुराज, दिनचर्या)

ग्राम कहा जाने वाला यह शोषित एवं पीड़ित आदमी समकालीन रचना-प्रक्रिया का कथ्य है। पर इसी के साथ 'ग्राम आदमी' की धारणा में एक विरोधाभास पाता हूं। रचना प्रक्रिया की दृष्टि से आदमी का जो भी चित्र साकार होता है वह ग्राम न होकर 'विशिष्ट' होता है पर उसकी यह विशेषता किसी न किसी स्तर पर ग्राम की भी विशेषता होती है। अतः रचनाकार 'विशेष' का ही चयन करता है, पर उस विशेष का रूपांतरण वह 'सामान्य' के धरातल पर करता है। सूक्ष्म रूप से देखने पर यह एक प्रकार का धारणात्मक अन्तर्विरोध है, जो ग्राम आदमी की धारणा को कुछ मिथकीय रूप प्रदान करता है। असल में रचना-प्रक्रिया के दौरान यह सामान्य और विशेष का इतना गहरा गठबन्धन रहता है कि दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है—दोनों का एक सापेक्ष सम्बन्ध है।

रचनाकार का 'स्व' या विशेष जहां एक ओर जीवन-दशाओं से जूझता है वहीं वह अपने परिवेश के ज्ञान-क्षेत्रों से भी जुड़ता है और दोनों का समष्टिगत रूप ही 'स्व' का निर्माण करता है। ज्ञान के इस अंतरअनुशासकीय संवादिता पर ही रचना को अनेक आयाम प्राप्त होते हैं। और इस प्रकार, साहित्य अनेक आयामी हो जाता है। आज का कवि जो अपने को बार-बार दोहराता है और चुक जाता है, इसका एक प्रमुख कारण ज्ञान के उस अंतरअनुशासनीय स्वरूप के प्रति एक नकारात्मक भाव है, जो इस बात को मान कर चलता है कि ज्ञान और कविता का क्या सम्बन्ध। समकालीन रचनाकार का यह दायित्व है कि ज्ञान को संवेदना और सर्जना के धरातल पर रूपांतरित करें और आम आदमी की जिंदगी और उसके वैचारिक क्षितिज को, क्रियाशील करें। 'आम आदमी' के नाम पर 'आदमी' की इस ज्ञानात्मक संवेदना को नकारना कम-से-कम आज के वैचारिक युग में 'आम आदमी' की अन्तर्निहित शक्तियों के प्रति एक प्रश्न चिन्ह लगाना है। यदि विचार कविता को सही परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है तो उसे विचारधाराओं का मंथन करना होगा और सर्जना के नये आयामों को उद्घाटित करना होगा। विचार कविता, विद्रोही कविता, ठोस कविता, अकविता के नारों से हटकर वैचारिकता की शुद्ध जनवादी परम्परा को जीवित रखना, सही अर्थ में समकालीन कविता को सही परिप्रेक्ष्य देना है।

एक बात यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि, 'आदमी' कहीं बड़ा है 'आम आदमी' से वह इसलिए कि आम आदमी 'आदमी' के अंदर एक विशेष वर्ग है, वह सम्पूर्ण आदमी नहीं है। आदमी एक जटिलतम संगठन है और उसकी इस संगठन को कम से कम केवल आम आदमी की पक्षधरता से समझा नहीं जा सकता है, यह तो उसका एक महत्वपूर्ण अंग है। यह 'अंग' आदमी की उस तस्वीर को समक्ष लाता है जो संघर्षरत है। 'आदमी' का प्रत्यय सभावनाओ का प्रत्यय है और उसकी अन्तर्निहित शक्तियो को अनेक आयामी सभावनाओ की ओर ले जाता है। आदमी के इस व्यापक प्रत्यय को और उसके गतिशील रूप को पकड़ना रचनाकार का क्षेत्र है। और इस अर्थ मे 'आदमी' मात्र 'आम' आदमी नही है। वह इससे कहीं बड़ा और व्यापक प्रत्यय है। कविता और साहित्य आदमी के इसी बड़े और व्यापक रूप को पकड़ना चाहता है।

मुक्तिबोध की कविता : गहराई बोधक-रूपाकारों का स्वरूप

मुक्ति-बोध ज्ञान-संवेदन के कवि हैं और उनके गहराई-बोधक बिम्बों, रूपाकारों का सम्बन्ध जहां ज्ञान-संवेदन से है, वहीं उनका सम्बन्ध यथार्थ और सृजन-प्रक्रिया से है। मुक्तिबोध का बिम्ब प्रयोग कथ्य को 'घनत्व' प्रदान करता है, तो दूसरी ओर उनकी फैंटेसी को गति देता है, और यह सारा कार्य कल्पना के साथ-साथ यथार्थ और ज्ञान के समन्वित संस्पर्श से घटित होता है। अतः मुक्तिबोध के गहराई बोधक रूपाकार केवल कल्पना की रंगीनी पर ही टिके हुए नहीं हैं, पर उनमें कवि की ज्ञान-संवेदनात्मक दृष्टि का एक गहरा पुट है। यही कारण है कि उनके बिम्ब और रूपाकार एक शिल्पी की तरह न तराशे गए हैं और न पालिश किए गए हैं, पर उनमें वास्तविक जीवन की धड़कनें और ज्ञान संवेदन की ऊष्मा है। ये रूपाकार कवि के आत्मान्वेषण और आत्म संघर्ष की भूमिकाएं भी प्रस्तुत करते हैं। सागर, शून्य, खाइयां, टीले, गड्ढे और भूगर्भीय भेदन आदि बिम्बात्मक रूपाकार जहां एक ओर कथ्य को घनत्व प्रदान करते हैं, वहीं ये कवि के आत्म संघर्ष को भी साकार करते हैं। इन रूपाकारों के द्वारा कवि 'गहराइयों' की यात्रा करता है। नगर और जंगल के अवचेतन में गहरे उतरता है तथा 'ज्योतिकण' "ज्योतिर्मणि" की खोज करने में सतत् प्रयत्नशील रहता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो ये गहराई बोधक रूपाकार ही कवि को अधिक उत्तेजित करते हैं। ऐसा क्यों? इसका उत्तर कुछ आलोचक यह कह कर देते हैं—ये कवि के अवचेतन-मन के प्रतीक हैं, पर यह एक सीमा के बाद सत्य नहीं है क्योंकि ये 'रूपाकार' यथार्थ की विसंगतियों और विडम्बनाओं की गाथा भी कहते हैं और इसके साथ ही ये रूपाकार अन्तस् और बाह्य के भयंकर द्वन्द्व को साकार करते हैं। इस दृष्टि से ये 'गहरे रूपाकार' केवल अवचेतन के प्रतीक नहीं हैं, पर वे यथार्थगत विडम्बनाओं और ज्ञान संवेदन के संस्पर्श से एक व्यापक अर्थ प्रदान करते हैं। कवि का यह
में उतरना और इस "गहरे" को व्यंजित करने के लिए कभी भूगर्भ का 5।
कभी बावड़ी, सीढ़ियों का सहारा लेना, कभी समुद्र के गहरे में उतरना, क

गत स्तरों से गुजरना और कभी परमाणु की गहरी संरचना से गुजरना ये सभी बिम्बात्मक रूपाकार कवि के बाह्य और अंतर के द्वन्द्व को साकार करते हैं, तो दूसरी ओर उसकी खोज-यात्रा का सतत् साक्षात्कार कराते हैं। इस अन्वेषण और खोज के प्रति कवि का यह कथन मेरे सारे उपर्युक्त विवेचन को एक सूत्र-रूप में प्रस्तुत करता है—

> अजीब सी अकुलाहट दिल में उभरती है
> मैं कुछ गहरे मे उतरना चाहता हूं
> जाने क्या मिल जाए।

बाहर और अन्दर का संघर्ष कवि के बिम्बात्मक रूपाकारों में प्राप्त होता है और उनमे से एक ऐसा बिम्ब है 'शून्य' जिसे कवि ने पारिभाषिक अर्थ (दर्शन व धर्म) न देकर, उसे एक नए संदर्भ में प्रस्तुत किया है। वह काले, नग्न अवचेतन मन का बिम्ब है और इस 'शून्य' से कवि जूझता हुआ नजर आता है जो बाह्य प्रभावों से अछूता नहीं है—

'गहराई' का वाचक शब्द 'शून्य' होने पर भी यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि कवि ने 'गहराई' को जो एक प्रकार से लम्बपरक है, उसकी महत्ता को नये ध्वनि-बिम्बों और प्रतिध्वनियों के संघर्ष में रेखांकित किया है और यह जाहिर किया है कि 'रूप' अपने बिम्ब (जो रूप का प्रतिरूप है) से जूझ कर ही आकृति और कृति को जन्म देता है चाहे वह भयंकर और विकृत ही क्यों न हो? सत्य तो यह है कि 'गहराइयों' से ही ध्वनियां उठती है जिसका स्वरूप, गर्जन, गूंज तथा आन्दोलन से युक्त होता है :

> —ये गरजती, गूंजती, आंदोलिता
> गहराइयों से उठ रही ध्वनियां, अतः
> उद्भ्रांत शब्दों के नए आवर्त में
> हर शब्द निज प्रति शब्द को है काटता
> वह रूप अपने बिम्ब से भी जूझ
> विकृताकार-कृति
> है बन रहा।

ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहां![2] 'ब्रह्मराक्षस' का प्रतीक रूप इसी 'गहराई' से उत्पन्न होता है जो अहंवादी बुद्धिजीवियों का ऐसा प्रतीक है जो अपने ही 'बिम्ब' से जूझ रहा है। कूपमंडूकता रूपी बावड़ी में बैठा हुआ यह ब्रह्मराक्षस अपने मैल को साफ कर पा रहा है, पर क्या वह मैल को साफ कर पा रहा है? यही

ब्रह्मराक्षस की ट्रेजडी है कि वह 'अहं' से पीड़ित है और दो पाटों (बाहरी और भीतरी) के बीच पिस गया है—

> पिस गया वह भीतरी
> और बाहरी दो कठिन पाटों बीच
> ऐसी ट्रेजडी है नीच !!

'ब्रह्मराक्षस' शब्द के द्वारा कवि ने बुद्धिजीवियों की विसंगति पर एक मर्मवान् व्यंग्य किया है जिसमें तनाव को शुरू से अंत तक अनुस्यूत किया गया है।

यह भयावह आदिम प्रवृत्ति का प्रतीक है, 'ओरांग उटांग' कविता में मानव मन के गहरे गुहांधकार में बैठा है जिसे कवि "यक्ष" भी कहता है :—

> करता हूं महसूस
> एकाएक गरदन पर उगी हुई
> सघन अयाल और
> शब्दों पर उगे हुए बाल तथा
> वाक्यों में ओरांग-उटांग के
> बढ़े हुए नाखून।

फ्रायड का मन (अचेतन) भी भयावह है, डरावना है जो मन के गुहांधकार का प्रतिरूप है। यह ओरांग-उटांग मानव के अंदर "हैवान" का रूप है जो रक्तपात आदि करता है और विडम्बना यह कि वानर की पूंछ जो बाहर थी, वह इन्सान के अन्दर चली गयी है। मुक्तिबोध की यह कविता रहस्यमय पूंछ के द्वारा मानव में अन्दर छिपे 'जानवर' की विसंगति को व्यक्त करती है। क्या मानव इस ओरांग उटांग से उबर सकता है? यह मानव का ज्ञान और सत्य किसके लिए ? ये सब प्रश्न इस कविता के अन्तराल से उभरते हैं और प्रश्नचिन्ह बनकर उपस्थित होते हैं।

कवि ने अपने गहराई बोधक रूपाकारों को नृगर्भीय-प्रक्रियाओं और सामूहिक सर्वेक्षण से भी सम्बन्धित किया है जो उसकी रचना-प्रक्रिया को एक नया आयाम देता है। इसका एक कारण कवि का ज्ञानात्मक-संवेदन भी है जो उसे ज्ञान के विविध क्षेत्रों की ओर गतिशील करता है। कवि का 'मानस' गहराइयों का स्पर्श करना चाहता है और परत-दर-परत गहराइयों की खोजपूर्ण 'यात्रा' करना चाहता है। इस 'यात्रा' में नृगर्भ-विज्ञान के द्वारा प्राप्त तथ्यों को वह यथार्थ संघर्ष भावभूमि पर रूपांतरित करता है। अनेक आलोचक उन गहराई बोधक

शाब्दिक जिक्र तो करते हैं, पर इस तथ्य को वे भूल जाते हैं कि इन गहराइयों की अनुभूति को साकार 'बिम्ब' देने का कार्य उन्होंने भूगर्भ-विज्ञान और सामुद्रिक-विज्ञान के तथ्यों के द्वारा पुष्ट करके प्रस्तुत किया है। अप्रत्यक्ष रूप से रचनाकार और भूगर्भ विज्ञानी के आपसी संवाद को कवि ने अर्थवत्ता प्रदान की है—

> खोदो, जड़ मिट्टी को खोदो
> ओ, भूगर्भ शास्त्री !
> भीतर का, बाहर का
> व्यापक सर्वेक्षण कर डालो।

यदि गहराई से देखा जाए तो कवि की कविता यथार्थ और सत्य का व्यापक 'सर्वेक्षण' करती है। बाह्य यथार्थ का सर्वेक्षण अन्त मे, आन्तरिक यथार्थ में रूपांतरित होता है और यही कारण है कि मुक्तिबोध की कविता बाह्य का अभ्यांतरीकरण है जिसमे गहराई बोधक बिम्बों का एक रचनात्मक संदर्भ है।

इस सर्वेक्षण के बाद वह धरती के अन्दर होने वाली रासायनिक प्रक्रिया का सहारा लेता है जो कालक्रम में मिट्टी के ढेर को चट्टानों मे परिणत कर देती है। ये चट्टानें अपनी परतों मे जैविक अवशेषों के चित्र उभारती है जिनके द्वारा इतिहास, अतीत की गहराइयों में प्रविष्ट करता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को कवि ने आत्मसात् किया है और उसे एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। इस परिप्रेक्ष्य में स्वयं मानव का चित्र उभर कर सामने आता है :—

> पृथ्वी के पेट में घुस कर जब
> पृथ्वी के हृदय की गरमी के द्वारा तब
> मिट्टी के ढेर ये चट्टानें बन जाएंगी
> तो उन चट्टानों की,
> आंतरिक परतों की सतहों पर
> चित्र उभर आएंगे
> हमारे चेहरे के, तन बदन के, शरीर के।[3]

ऐतिहासिक मानव का संघर्ष, विकास की परम्परा को सूचित करता है और जीवन के तथ्यों को अंगीकार कर (जो चट्टानी सिलसिले के समान है) और उनसे उत्पन्न 'रस-गंगा' का जो चित्र प्रस्तुत होता है, वह 'अंगारी' है। जीवन के ये तथ्य कड़ुए और अंगारी हैं और कवि का समस्त जीवन इस 'अंगारी रस-गंगा' का संघर्षमय जीवन है। कवि की रचना प्रक्रिया यहां पर ज्ञान और संवेदन की उष्मा से प्रखर हो गयी है :

धरती के अन्तर में कैसे चिटख-चिटख कर
चट्टानी सिलसिले
जिन्दगी के तथ्यों के,
ज्वलन्त रस बन पिघल रहे हैं।
बनकर श्रृंगारी-रस-गंगा
हम ज्वालामुखियों के अन्दर उतर रहे हैं। (पृ. 110)

इन गहराइयों की यात्रा का बिम्ब मुक्तिबोध की कविता को विज्ञान-बोध से जोड़ता है और इसी प्रकार का एक अन्य बिम्ब है समुद्र के अन्तराल में प्रविष्ट होने का। समुद्र के अतल तल में अनेक महाद्वीप लुप्त हो गए हैं और कवि ने वहां जल-खोहों तक जाने की जो बात कही है, वह अप्रत्यक्ष रूप से कवि की संघर्षमूलक सृजन-यात्रा है जो अन्तहीन खोज की यात्रा है—एक न खत्म होने वाली प्रक्रिया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध जितना यथार्थ के प्रति सजग है, मानव-वेदना के प्रति सजग है, उतना ही वे 'ज्ञान-बोध' के प्रति भी सजग हैं। उनकी काव्य-संवेदना विज्ञान और ज्ञान बोध के द्वारा कहीं अधिक अर्थवान हो गयी है और उनके बिम्बात्मक रूपाकार इस तथ्य की गवाही देते हैं।

संदर्भ-संकेत

1. चांद का मुंह टेढ़ा है, पृ. 72
2. चांद का मुंह टेढ़ा है, ब्रह्मराक्षस, पृ. 11–12
3. चांद का मुंह टेढ़ा है, पृ. 59

विज्ञान-बोध और वैचारिकता

जब भी हम 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं, हमारे सामने उसका तकनीकी पक्ष उभर कर आता है और इस प्रकार हम विज्ञान-बोध को एक सीमित अर्थ प्रदान करते हैं। बर्ट्रेंड रसेल ने विज्ञान के इस पक्ष को शक्ति-मूल्य की सज्ञा दी है जो एक ओर आदमी की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तो दूसरी ओर राजतन्त्र को निरंकुशता की ओर ले जाता है। विज्ञान का यह शक्तिपक्ष वैचारिकता से उतना सम्बन्धित नहीं है जितना शक्ति अर्जन से। विज्ञान-बोध हमें एक ऐसे आयाम की ओर ले जाता है जिस के बारे में हम कम ही सोचते हैं। यह क्षेत्र है विज्ञान का वैचारिक पक्ष या चिन्तन पक्ष।

विज्ञान के इस पक्ष ने उसके उस रूप को स्पष्ट किया है जिसने न केवल मानव, ब्रह्मांड और सृष्टि से सम्बन्धित मान्यताओं और अवधारणाओं में ही परिवर्तन किया है, बल्कि हमें नये ढग से सोचने पर भी विवश किया है। इस दृष्टि से विज्ञान-बोध हमारे वैचारिक क्षितिज को विस्तार प्रदान करता है और अनेक दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं और प्रत्ययों को एक नवीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। धर्म और दर्शन के अनेक प्रत्ययों और विचारों को वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा नये प्रकार से विवेचित किया जा सकता है और इस प्रकार, ज्ञान के अन्तर-अनुशासनीय 'संवाद' का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। एक प्रकार से यह 'संवाद' हमें नये सन्दर्भों से जोड़ता है। उदाहरणस्वरूप, त्रिमूर्ति की धारणा को लिया जा सकता है, जो एक वैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करती है। ब्रह्मा सृष्टि का प्रतीक (सृजनशक्ति), विष्णु समरसता का और शिव विलय का प्रतीक है। त्रिमूर्ति की धारणा में सृजन और विलय का एक नित्य चक्र स्पष्ट होता है और यह क्रम निरन्तर चला करता है। प्रकृति के ये तीन नियम इस वैज्ञानिक सत्य को भी स्पष्ट करते हैं कि समस्त सृष्टि निरन्तर सृजन और विलय और फिर विलय से सृजन की ओर गतिशील रहती है और इस क्रम में 'पदार्थ' का विलय होता है, विनाश नहीं। इसी प्रकार उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप की वैज्ञानिक

व्याख्या की जा सकती है। 'ब्रह्म' शब्द की संरचना 'बृह' धातु से हुई है जिसका अर्थ है फैलना या विस्तरणशील होना। आधुनिक विज्ञान विस्तरणशील विश्व (एक्सपेन्डिंग यूनिवर्स) की धारणा को मानता है जिसमें दिक् सदैव फैल रहा है और समस्त घटनाएं इसी 'दिक्' में सम्पन्न हो रही है। दिक् की यह विराटता ब्रह्म की विराटता है। ब्रह्म की जब सृष्टि करने की इच्छा हुई, तब उसने 'माया' को जन्म दिया और उसकी सहायता से सृष्टि-कार्य सम्पन्न किया। यह तथ्य इस जीवशास्त्रीय सत्य की ओर संकेत करता है कि अकेला व्यक्ति प्रजनन नहीं कर सकता, उसके लिए 'दो' की आवश्यकता है जो सृजन में संक्स या यौन के महत्व पर प्रकाश डालता है। इन उदाहरणों से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि किसी भी ज्ञान क्षेत्र के प्रतीकों का महत्व और औचित्य उनके 'विवेचन' में है जो उस 'प्रतीक' के अर्थ को नवीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं।

विज्ञान-बोध के उपर्युक्त स्तर के साथ एक अन्य तत्व है, 'मनोभावों' का। विज्ञान का विकास इधर एक आन्तरिक विकास की ओर गतिशील है। वस्तुतः 'ज्ञान' के जिस प्रेम की देन यह विज्ञान है, वह एक व्यवस्थित एवं प्रभिज्ञानपरक ज्ञान है। विज्ञान-बोध का यह मनोभाव 'प्रेम' का मनोभाव है जो किसी 'वस्तु' या प्रत्यय के प्रति ज्ञान इसलिए प्राप्त करना चाहता है कि उसके प्रति उसका एक तटस्थ प्रेमभाव है। ज्ञान की यह कामना एक भिन्न मनोभाव से सम्बन्धित है जो हमें रहस्यवादियों, कवियों तथा दार्शनिकों में प्राप्त होती है। ये सभी सत्यान्वेषी होते हैं, केवल उनमें पद्धति का अन्तर हो सकता है। प्रेम और ज्ञान के प्रत्येक स्वरूप के द्वारा हम 'प्रिय' के ज्ञान का साक्षात्कार करते हैं। इस दृष्टि से विज्ञान-बोध ज्ञान के स्तरों का साक्षात्कार करता है और साथ ही विश्व, ब्रह्माण्ड तथा मानव जीवन के रहस्यों का उद्घाटन भी करता है, जिससे हमारी वैचारिकता नवीन दिशाओं की ओर प्रेरित होती है।

विज्ञान-बोध से सम्बन्धित वैचारिकता ने दो महत्वपूर्ण भ्रान्तियां की हैं— एक मानव के स्वरूप से सम्बन्धित है और दूसरी ब्रह्माण्ड के स्वरूप तथा रहस्य से। इन दोनों वैचारिक भ्रान्तियों ने हमारी पारम्परिक मूल्य-अवधारणा को भी एक प्रकार से संशोधित किया है तथा दूसरी ओर, मानव तथा ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित नवीन प्रस्थापनाओं को प्रस्तुत किया है, जिसने दार्शनिक एवं धार्मिक उपपत्तियों को भी प्रभावित किया है।

विकासवादी सिद्धान्त की दृष्टि से मानव का सम्बन्ध मानवेतर प्राणियों से है, क्योंकि बाह्य एवं आन्तरिक संरचना और संगठन की दृष्टि से मानव और मानवेतर प्राणियों में अनेक समानताएं हैं। लो काम्टे डू न्यू ने अपनी प्रसिद्ध

पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टिनी' में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि शारीरिक संरचना की दृष्टि से मानव विकास-क्रम का सब से विशेषीकृत प्राणी है और इस क्षेत्र में अब उसका विकास सम्भव नहीं है। विकास का यह नियम है कि जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वैसे-वैसे जीव की सरचना जटिल से जटिलतर होती जाती है और संरचना की दृष्टि से मानव सब से अधिक जटिल प्राणी है। इससे यह भ स्पष्ट होता है कि मानव ईश्वर का अंश न होकर, विकास की चरम परिणति है और उसका अवतरण अनायास न होकर 'क्रमिक रूप' में हुआ है।

अब प्रश्न है मानव का भावी विकास किस दिशा में सम्भव है? इसका उत्तर अनेक जीवविज्ञान के विचारकों ने यह दिया है कि इस चरम शारीरिक सरचना के बाद मानव की भावी विकास-सम्भावनाएं मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरो पर ही घटित हो सकती हैं। मानसिक और आध्यात्मिक विकास का क्या अर्थ है, इसे समझने के लिए सबसे पहले मानव की स्वातन्त्र्य-भावना को हृदयंगम करना आवश्यक है। विकासवादी परम्परा के अनुसार जीवधारियों की स्वातन्त्र्य-भावना का विकास उनकी चयन शक्ति पर आश्रित है और मानव तक आते-आते यह 'चयन-शक्ति' अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है। चयन की भावना दो (या अधिक) विपरीत स्थितियों के मध्य सन्तुलन भी करती है, और कभी-कभी वह दो प्रत्ययो के बीच एक प्रत्यय या वस्तु का निर्वाचन भी करती है जो बौद्धिक विकास का वह बिन्दु है जो मानव को अन्य मानवेतर प्राणियों से भिन्न कर देता है। दूसरे शब्दों में, कुछ करने या न करने की प्रतिबद्धता, जो अस्तित्व का एक आवश्यक तत्व है, मानव की इसी इच्छा या चयन-शक्ति का द्योतक है। वस्तुतः यह प्रतिबद्धता मानवीय जीवन के विकास-क्रम के साथ जुड़ी हुई है। यही कारण है कि मानवीय बुद्धि कुछ-न-कुछ चयन करती है और उसी के अनुसार व्यवहार या आचरण करती है। इस प्रकार मानव किसी-न-किसी प्रतिबद्धता की ओर अग्रसर होता है। अतः नैतिक आचरण और प्रतिबद्धता दोनों का एक सापेक्ष महत्व है जो कार्य-कारण की शृंखला से बधा हुआ है। विकास की परम्परा में नैतिकता की धारणा एक सापेक्ष धारणा है न कि निरपेक्ष, और यह सापेक्ष-दर्शन विज्ञान-बोध का एक ऐसा तत्व है जो चिन्तन के नवीन आयामो को उद्घाटित करता है। होमोसेपियन्स (मानव का आदिम रूप) मे विवेकशील नैतिकता का आदिम रूप प्राप्त होता है क्योंकि होमोसेपियन्स का अर्थ ही 'विवेकशील प्राणी' है। यह वह जीवशास्त्रीय स्तर है जिसका अतिक्रमण कर मानव मनोवैज्ञानिक स्तर मे प्रवेश करता है। मानव का यह मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण उसको 'दिव्यता' का ही रूप है। जब तक हम स्वातन्त्र्य, चयन-शक्ति और नैतिक प्रतिबद्धता को इस परिप्रेक्ष्य मे नहीं समझेंगे तब तक हम विकास-वादी दृष्टि से मानव की 'दिव्यता' के सही

अर्थ को नहीं समझ सकेंगे, इस दृष्टि से स्वातन्त्र्य शक्ति मानव के लिए एक वरदान होते हुए भी उसकी परीक्षा का विषय है। श्री अरविन्द का दर्शन भी विकासवादी दर्शन है जो चेतना के क्रमिक विकास को आधार मान कर 'अतिचेतना' के स्तर तक मानव के भावी विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। यहां पर एक व्यापक अर्थ में अध्यात्म और विज्ञान के परस्पर संवाद और समन्वय से मानव-नियति के प्रति एक 'दृष्टि' प्राप्त होती है।

मानव-विकास का यह रूप सृष्टि-विकास का एक प्रमुख अंग है क्योंकि आधुनिक विज्ञान अनेक अज्ञात सृष्टियों की कल्पना करता है, और हमारा सौर मंडल सृष्टि का केवल एक सौर मंडल नहीं है, बल्कि इस प्रकार के अनेक सौर-मंडल हैं जो हमारी दृष्टि से परे हैं। ब्रह्माण्ड की इस अगाधता और विराटता को विश्लेषणात्मक रूप से विवेचित करने का प्रयत्न विज्ञान ने किया है जो दार्शनिक एवं धार्मिक उपपत्तियों को नवीन परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है तो दूसरी ओर विज्ञान के दार्शनिक और वैचारिक पक्ष को भी उद्घाटित करता है।

ब्रह्माण्ड की विराटता और उसके स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए विज्ञान द्वारा प्रतिपादित दिक् और काल की धारणाओं को समझना आवश्यक है। न्यूटन के समय से इन दो प्रत्ययों को लेकर ब्रह्माण्ड के स्वरूप को समझने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ जो आइंस्टाइन और एडिंगटन के समय तक अनेक संशोधनों से गुजरा जिसने विश्व-संरचना पर अपने तरीके से प्रकाश डाला। न्यूटन एक आस्थावादी वैज्ञानिक था और दिक् और काल को उसने निरपेक्ष और अनन्त माना जो दर्शन के क्षेत्र में भी युगों से मान्य रहा। दिक् और काल को निरपेक्ष मानने से उनकी सापेक्ष स्थिति के प्रति न्यूटन के सामने कोई समस्या नहीं थी क्योंकि इससे यह निर्णय किया गया कि कोई निरपेक्ष 'सत्ता' विश्व का संचालन करती है और वह 'सत्ता' विश्व से परे है।

आइंस्टाइन ने सापेक्षवादी सिद्धान्त के द्वारा दिक् और काल की सापेक्षता स्वीकार की तथा उनके निरपेक्ष अस्तित्व के प्रति शंका प्रकट की। दिक् और काल निरपेक्ष न होकर सापेक्ष 'प्रत्यय' है और इनका अस्तित्व दर्शक की सापेक्षता में है। अपने इस सिद्धान्त को समझाने के लिए आइंस्टाइन ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया। दो रेलें विपरीत दिशाओं में जा रही हैं और दोनों एक दूसरे को एक स्थान पर क्रॉस करती है। उस समय यात्री को ऐसा लगेगा कि वह जिस गतिवान गाड़ी पर बैठा हुआ है, वह तो स्थिर है और दूसरी गाड़ी गतिशील है जबकि दोनों गाड़ियां निरन्तर चल रही हैं। यह स्थिरता एवं गतिशीलता दर्शक की

सापेक्षता से प्राप्त होती है। यहां पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि दिक् और काल का अलगाव विषयीगत है जो द्रष्टा की सापेक्षता पर आश्रित है। आइंस्टाइन की यह प्रस्थापना सापेक्षदर्शन की भूमिका प्रस्तुत करती है और विज्ञान एक विषयीगत क्रिया है, इस तथ्य को एक तात्विक भावभूमि प्रदान करती हैं। दिक् और काल की सापेक्ष स्थिति विश्व और ब्रह्माण्ड की संरचना तथा उसके स्वरूप पर प्रकाश डालती हैं। दिक् के तीन आयाम होते हैं—लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई, और काल का एक आयाम लम्बाई। अतः यह ब्रह्माण्ड दिक् और काल के चतुरायामिक विस्तार में अवस्थित है और सृजन तथा विलय की समस्त प्रक्रियाएं इसी में घटित होती हैं। यहां पर आइंस्टाइन एक तात्विक भावभूमि प्रस्तुत करते हैं—दिक् और काल सीमित एवं सापेक्ष हैं पर वे अनाबद्ध हैं। यह कथन एक तात्विक कथन है जो विज्ञान और दर्शन के आपसी संवाद को रेखांकित करता है। सापेक्ष दर्शन का दूसरा तथ्य यह है कि हम सम्बन्धों के विश्व में रह रहे हैं और सम्बन्धों के द्वारा ही अनुभव प्राप्त करते हैं। क्वांटम सिद्धान्त इस का उत्तर यह देता है कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह केवल अनिश्चितता ही देखते एवं अनुभव करते हैं, नयी भौतिकी का यह सिद्धान्त विश्व की प्रत्येक घटना के प्रति सत्य नहीं है और यह प्रस्थापना ऊर्जा, विद्युत और पदार्थ को आणविक रूप में स्वीकार करती है। ऊर्जा-सृजन एक निरन्तर प्रक्रिया नहीं है। उसका सृजन और बहिर्गमन निरन्तर न होकर प्रमात्रा (क्वांटम) में होता है। यही कारण है कि ऊर्जा का स्वरूप प्रमात्रामूलक है और दूसरी ओर पदार्थ का स्वरूप भी आणविक है। अतः पदार्थ और ऊर्जा का सापेक्ष सम्बन्ध है और ऊर्जा का रूपान्तरण पदार्थ में और पदार्थ का ऊर्जा में इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि पदार्थ नष्ट नहीं होता, उसका रूपान्तरण होता है। आधुनिक विज्ञान में पदार्थ की अवधारणा तात्विक होती जा रही है, वह केवल मात्र भौतिक प्रत्यय नहीं है। रसेल ने पदार्थ की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर कहा है कि "पदार्थ भौतिक नहीं है, बल्कि वह ऐसा प्रत्यय है जिस तक मन पहुंचना चाहता है, पर अन्तिम रूप से पहुंच नहीं पाता।" पदार्थ के प्रति यह कथन पदार्थ के आधिभौतिक एवं तात्विक रूप की ओर संकेत करता है जिससे पदार्थ को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलता है। अतः पदार्थ ही वह तत्व है, जिससे सब कुछ का सृजन हुआ है और इस अर्थ में फ्रेड हॉयल ने 'पृष्ठभूमि पदार्थ' (बैकग्राउंड मैटिरियल) की कल्पना की है जिससे दिक्, काल, घटनाएं एवं वस्तुओं की रचना हुई है। कण भौतिकी (पार्टिकल्स फिजिक्स) की यह प्रस्थापना है कि दिक् और काल भी पदार्थ के रूपान्तरण हैं। जैन-दर्शन में भी द्रव्य (पदार्थ) के अनेक रूपान्तरों में दिक् और काल को भी द्रव्य का रूप माना गया है। पदार्थ का उपर्युक्त स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि विश्व केवल मात्र भौतिक नहीं है, बल्कि

उस की संरचना अ-भौतिक तथा अयान्त्रिक है। विश्व का यह अयान्त्रिक रूप विज्ञान द्वारा मान्य यान्त्रिक रूप से एक भिन्न अवधारणा है जो इस बात को स्पष्ट करती है कि विज्ञान का क्षेत्र क्रमशः भौतिक से 'अभौतिक' और स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिशील है। विज्ञान का यह पक्ष उस के वैचारिक क्षेत्र को व्यापक बनाता है और विज्ञान का सम्बन्ध केवल कार्यकारण से है, इस बात को नकारता है। यहाँ पर विज्ञान को एक दार्शनिक एवं तात्विक भावभूमि प्राप्त होती है। इस सम्पूर्ण स्थिति को यदि दार्शनिक शब्दावली में कहा जाये तो विज्ञान द्वैतवाद को मानते हुए भी अद्वैत तत्व को प्रधानता देता है। दिक् और काल, पदार्थ और ऊर्जा, मन और पदार्थ ये-सभी द्वैत विरोधाभास से लगते हैं, पर मूलतः इनका सापेक्ष सम्बन्ध है। कोई भी 'अस्तित्व' निरपेक्ष नहीं है, उसका अस्तित्व सम्बन्धगत है। इसी सापेक्ष-दर्शन के प्रकाश में ईश्वर का अस्तित्व निरपेक्ष न होकर सृष्टि-सापेक्ष है अर्थात् ईश्वर की अवधारणा का विकास जगत् के साथ हुआ है और 'उसका' सम्बन्ध इस दृश्यमान जगत् और विश्व से है।

उपर्युक्त विवेचन से एक अन्य बात यह भी स्पष्ट होती है कि आधुनिक विज्ञान 'आदर्शवाद' की ओर उन्मुख है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि विज्ञान का आदर्शवाद, यथार्थवाद का नकार है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो वैचारिकता में ये दोनों प्रवृत्तियाँ समानान्तर विकसित हुई हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'सत्य' एक सापेक्ष 'पूर्णता' है जिसमें 'आदर्श' और यथार्थ के घटक अन्तर्निहित रहते हैं। सर जेम्स जीन्स, एडिंगटन, फ्रेड हॉयल, रसेल तथा आइंस्टाइन आदि विज्ञान-दार्शनिकों ने 'सत्य' का यही सापेक्ष और समन्वित रूप माना है। इनका आदर्शवाद यथार्थ की सही पहचान है और इनका यथार्थवाद, आदर्श की भंगिमा से अनुप्रेरित है। यहां पर कुछ वैज्ञानिकों के आदर्शवाद का विवेचन अपेक्षित है जो तात्विक वैचारिकता का परिचय देते हैं। इस दृष्टि से रसेल तथा एडिंगटन के विचारों का विवेचन आवश्यक है।

एडिंगटन का आदर्शवाद विषयीगत है और उसकी प्रमुख स्थापना यह है कि आधुनिक भौतिकी ब्रह्मांड का आदर्शमूलक विवेचन प्रस्तुत करती है। बाह्य संसार से उद्भूत मानसिक बिम्बों का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है और विज्ञान का संसार इन्हीं अमूर्तनों से निर्मित होता है। वैज्ञानिक इन्हीं अमूर्तनों से प्रकृति और विश्व के सत्यों का उद्घाटन करता है। गणित और भौतिकी इन्हीं अमूर्तनों के द्वारा यथार्थ की ओर उन्मुख होते हैं। इस दृष्टि से अपने मूल रूप में विज्ञान के 'विषय' प्रतीकात्मक होते हैं। इसके अतिरिक्त एडिंगटन ने 'सत्य' को सापेक्ष माना है और विषयीगत। सत्य का यह रूप वैज्ञानिक ज्ञान और ऐन्द्रिय अनुभव की प्रतीकात्मक

सापेक्षता से प्राप्त होती है। यहां पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि दिक् और काल का अलगाव विषयीगत है जो द्रष्टा की सापेक्षता पर आश्रित है। आइंस्टाइन की यह प्रस्थापना सापेक्षदर्शन की भूमिका प्रस्तुत करती है और विज्ञान एक विषयीगत क्रिया है, इस तथ्य को एक तात्विक भावभूमि प्रदान करती है। दिक् और काल की सापेक्ष स्थिति विश्व और ब्रह्माण्ड की संरचना तथा उसके स्वरूप पर प्रकाश डालती है। दिक् के तीन आयाम होते हैं—लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई, और काल का एक आयाम लम्बाई। अतः यह ब्रह्माण्ड दिक् और काल के चतुरायामिक विस्तार में अवस्थित है और सृजन तथा विलय की समस्त प्रक्रियाएं इसी में घटित होती हैं। यहां पर आइंस्टाइन एक तात्विक भावभूमि प्रस्तुत करते हैं—दिक् और काल सीमित एवं सापेक्ष हैं पर वे अनाबद्ध हैं। यह कथन एक तात्विक कथन है जो विज्ञान और दर्शन के आपसी संवाद को रेखांकित करता है। सापेक्ष दर्शन का दूसरा तथ्य यह है कि हम सम्बन्धों के विश्व में रह रहे हैं और सम्बन्धों के द्वारा ही अनुभव प्राप्त करते हैं। क्वांटम सिद्धान्त इस का उत्तर यह देता है कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह केवल अनिश्चितता ही देखते एवं अनुभव करते हैं. नयी भौतिकी का यह सिद्धान्त विश्व की प्रत्येक घटना के प्रति सत्य नहीं है और यह प्रस्थापना ऊर्जा, विद्युत और पदार्थ को आणविक रूप में स्वीकार करती है। ऊर्जा-सृजन एक निरन्तर प्रक्रिया नहीं है। उसका सृजन और बहिर्गमन निरन्तर न हो कर प्रमात्रा (क्वांटम) में होता है। यही कारण है कि ऊर्जा का स्वरूप प्रमात्रामूलक है और दूसरी ओर पदार्थ का स्वरूप भी आणविक है। अतः पदार्थ और ऊर्जा का सापेक्ष सम्बन्ध है और ऊर्जा का रूपान्तरण पदार्थ में और पदार्थ का ऊर्जा में इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि पदार्थ नष्ट नहीं होता, उसका रूपान्तरण होता है। आधुनिक विज्ञान में पदार्थ की अवधारणा तात्विक होती जा रही है, वह केवल मात्र भौतिक प्रत्यय नहीं है। रसेल ने पदार्थ की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर कहा है कि "पदार्थ भौतिक नहीं है, बल्कि वह ऐसा प्रत्यय है जिस तक मन पहुंचना चाहता है, पर अन्तिम रूप से पहुंच नहीं पाता।" पदार्थ के प्रति यह कथन पदार्थ के आधिभौतिक एवं तात्विक रूप की ओर संकेत करता है जिससे पदार्थ को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलता है। अतः पदार्थ ही वह तत्व है, जिससे सब कुछ का सृजन हुआ है और इस अर्थ में फ्रेड हॉयल ने 'पृष्ठभूमि पदार्थ' (बैकग्राउंड मैटियरिल) की कल्पना की है जिससे दिक्, काल, घटनाएं एवं वस्तुओं की रचना हुई है। कण भौतिकी (पार्टिकल फिजिक्स) की यह प्रस्थापना है कि दिक् और काल भी पदार्थ के रूपान्तरण हैं। जैन-दर्शन में भी द्रव्य (पदार्थ) के अनेक रूपान्तरों में दिक् और काल को भी द्रव्य का रूप माना गया है। पदार्थ का उपर्युक्त स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि विश्व केवल मात्र भौतिक नहीं है, बल्कि

उस की संरचना अ-भौतिक तथा अयान्त्रिक है। विश्व का यह अयान्त्रिक रूप विज्ञान द्वारा मान्य यान्त्रिक रूप से एक भिन्न अवधारणा है जो इस बात को स्पष्ट करती है कि विज्ञान का क्षेत्र क्रमशः भौतिक से 'अभौतिक' और स्थूल से सूक्ष्म की ओर गतिशील है। विज्ञान का यह पक्ष उस के वैचारिक क्षेत्र को व्यापक बनाता है और विज्ञान का सम्बन्ध केवल कार्यकारण से है, इस बात को नकारता है। यहां पर विज्ञान को एक दार्शनिक एवं तात्विक भावभूमि प्राप्त होती है। इस सम्पूर्ण स्थिति को यदि दार्शनिक शब्दावली में कहा जाये तो विज्ञान द्वैतवाद को मानते हुए भी अद्वैत तत्व को प्रधानता देता है। दिक् और काल, पदार्थ और उर्जा, मन और पदार्थ ये-सभी द्वैत विरोधाभास से लगते हैं, पर मूलतः इनका सापेक्ष सम्बन्ध है। कोई भी 'अस्तित्व' निरपेक्ष नहीं है, उसका अस्तित्व सम्बन्धगत है। इसी सापेक्ष-दर्शन के प्रकाश में ईश्वर का अस्तित्व निरपेक्ष न होकर सृष्टि-सापेक्ष है अर्थात् ईश्वर की अवधारणा का विकास जगत् के साथ हुआ है और 'उसका' सम्बन्ध इस दृश्यमान जगत् और विश्व से है।

उपर्युक्त विवेचन से एक अन्य बात यह भी स्पष्ट होती है कि आधुनिक विज्ञान 'आदर्शवाद' की ओर उन्मुख है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि विज्ञान का आदर्शवाद, यथार्थवाद का नकार है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो वैचारिकता में ये दोनों प्रवृत्तियां समानान्तर विकसित हुई हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'सत्य' एक सापेक्ष 'पूर्णता' है जिसमें 'आदर्श' और यथार्थ के घटक अन्तर्निहित रहते हैं। सर जेम्स जीन्स, इडिंगटन, फ्रेड हॉयल, रसेल तथा आइंस्टाइन आदि विज्ञान-दार्शनिकों ने 'सत्य' का यही सापेक्ष और समन्वित रूप माना है। इनका आदर्शवाद यथार्थ की सही पहचान है और इनका यथार्थवाद, आदर्श की भंगिमा से अनुप्रेरित है। यहां पर कुछ वैज्ञानिकों के आदर्शवाद का विवेचन अपेक्षित है जो तात्विक वैचारिकता का परिचय देते है। इस दृष्टि से रसेल तथा इडिंगटन के विचारों का विवेचन आवश्यक है।

इडिंगटन का आदर्शवाद विषयीगत है और उसकी प्रमुख स्थापना यह है कि आधुनिक भौतिकी ब्रह्मांड का आदर्शमूलक विवेचन प्रस्तुत करती है। बाह्य संसार से उद्भूत मानसिक बिम्बों का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है और विज्ञान का संसार इन्हीं अमूर्तनों से निर्मित होता है। वैज्ञानिक इन्हीं अमूर्तनों से प्रकृति और विश्व के सत्यों का उद्घाटन करता है। गणित और भौतिकी इन्हीं अमूर्तनों के द्वारा यथार्थ की ओर उन्मुख होते हैं। इस दृष्टि से अपने मूल रूप में विज्ञान के 'विषय' प्रतीकात्मक होते हैं। इसके अतिरिक्त इडिंगटन ने 'सत्य' को सापेक्ष माना है और विषयीगत। सत्य का यह रूप वैज्ञानिक ज्ञान और ऐन्द्रिय अनुभव की प्रतीकात्मक

प्रतीक से पूर्ण है। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य अयान्त्रिक है और विश्व को केवल-यन्त्र मान लेना, उसके प्रति अधूरी दृष्टि है।

इडिंगटन के उपर्युक्त विचारों में एक दार्शनिक भावभूमि के दर्शन होते हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इडिंगटन ने वैज्ञानिक विषय को प्रतीकात्मक माना है जो पूर्णरूप से सत्य नहीं है। असल में यह वैज्ञानिक ज्ञान है जो प्रतीकात्मक होता है। वस्तुतः 'वस्तु' और प्रतीकात्मक सन्दर्भ का सम्बन्ध एक प्रक्रिया में ढल जाता है जिसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तु ही प्रतीक हो जाती है। इडिंगटन के मन में 'आदर्श' के प्रति इतनी आस्था प्रतीत होती है कि उनके मस्तिष्क में वस्तु या विषय का सही स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया जो उसकी चिन्तन प्रणाली में वस्तु के उचित स्थान का निर्धारण करने में समर्थ होती।

रसेल का आदर्शवाद इडिंगटन के आदर्शवाद से कहीं अधिक यथार्थमूलक है क्योंकि रसेल ने ज्ञान और पदार्थ के स्वरूप का जो विश्लेषण किया है, वह मूलतः उसके गणितीय मस्तिष्क की दार्शनिक अभिव्यक्ति है। उसका तटस्थ अद्वैत-दर्शन मन और बाह्य जगत् के सम्बन्ध को रेखांकित करता है। बाह्य जगत का ज्ञान इन्द्रिय अनुभव पर आधारित है और हम बाहरी संसार में जो कुछ भी देखते हैं, वे मूलतः हमारे मस्तिष्क की अनुभव घटनाएं हैं। वे घटनाएं हमारी 'देखने' की प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। यहां पर रसेल ने एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना प्रस्तुत की है। उसकी मान्यता है कि ये प्रीसेप्ट्स या घटनाएं न तो मानसिक हैं और न भौतिक, क्योंकि यह धारणा ही गलत है कि मन और मस्तिष्क दो अलग-अलग सत्ताएं हैं। इसको एक सन्दर्भ में लेने पर यह स्पष्ट होता है कि एक अनुभव घटना ही संवेदना है और दूसरे सन्दर्भ में यह प्रीसेप्ट संवेदना की वस्तु दो भिन्न घटनाएं नहीं हैं, पर इन का अस्तित्व विभिन्न सम्बन्धों के प्रकाश में माना गया है। इन दोनों प्रत्ययों की एकरूपता ही तटस्थ अद्वय-दर्शन की पीठिका है। संवेदना और उसकी वस्तु की समस्त प्रक्रियाएं एक 'व्यवस्था' या संयोजना के अन्तर्गत मानी जाती है।

ब्रह्माण्ड और प्रकृति की व्यवस्था को समझने के लिए विज्ञान दर्शन के दो महत्वपूर्ण प्रत्ययों का विवेचन आवश्यक है। ये प्रत्यय हैं विश्लेषण की भावना और सौंदर्य-बोध।

विज्ञान-बोध का आवश्यक तत्व विश्लेषण की भावना है जिस का सम्बन्ध आधुनिक भावबोध से है। विज्ञान-बोध में विश्लेषण वह पूर्णता है जिसका विभाजन 'अंशों' में हो सके। इडिंगटन का कहना है कि "संसार के समस्त रूप-

प्रकार जो दृष्टिगत होते हैं, उनका अस्तित्व विभिन्न 'अंशों' के आपसी सम्बन्ध पर आश्रित है।" दूसरे शब्दों में, विश्लेषण-प्रक्रिया मे अंश का, क्षण का और घटना का महत्व इसी दृष्टि से है कि इनके द्वारा 'पूर्ण' की व्यंजना कहां तक हो सकी है ? इस आणविक युग में एक सेकेंड का सौंवा हिस्सा मूलत: 'अनन्तता' (इन्फिनिटी) का द्योतक है। यही कारण है कि कला और साहित्य में क्षण, पल और घटना का महत्व बढ़ता जा रहा है जिसे हम विज्ञान-बोध के द्वारा गहराई से समझ सकते हैं। यदि इस तथ्य को हम ब्रह्मांड के संदर्भ में लें, तो स्पष्ट होता है कि परमाणु की संरचना वही है जो सौर-मण्डल की है, जो इस सत्य को प्रकट करता है कि अंश ही 'पूर्ण' का प्रतीक है। विश्लेषण के इस व्यापक अर्थ के प्रकाश मे 'सौन्दर्यबोध' को एक नया आयाम प्राप्त होता है कि आज का सौन्दर्य-बोध अंश और पल की अर्थवत्ता में है जो 'पूर्ण' के महत्व तथा अर्थगौरव को प्रकट कर सके। विज्ञान का सौन्दर्य-बोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता तथा समरसता मे समाहित है। वह, आइन्स्टाइन के शब्दों में, "विश्व के अन्तराल में पूर्वस्थापित सामरस्य के सौन्दर्य को देखता है। यह सौन्दर्य-बोध विश्लेषण पर आधारित एक व्यवस्था अथवा नियम की अनुभूति को प्रकट करता है।" मैक्सवेल का विद्युत चुम्बकीय सिद्धान्त, आइंस्टाइन का सापेक्षवादी सिद्धान्त, डार्विन का विकासवाद तथा नक्षत्र विद्या द्वारा उद्घाटित विश्व-रहस्य ये सभी क्षेत्र इस सौन्दर्यानुभूति को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं जो रचनाकार को भी नये सौन्दर्य-क्षितिजों की ओर उन्मुख कर सर्जनात्मकता को गति दे सकते हैं और जहां भी सर्जनात्मकता है, वहां सौन्दर्य-बोध का कोई न कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है। इस सर्जनात्मक तत्व के कारण गणित, भौतिकी, रसायन तथा प्राणिशास्त्र–ये सभी ज्ञान-क्षेत्र सौन्दर्य-बोध के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन करते हैं।

इस प्रकार, विज्ञान-बोध हमें क्रमशः वैचारिकता और चिन्तन के नवीन आयामों की ओर अग्रसर करता है और साथ ही, सौन्दर्य-बोध को एक व्यापक एवं अर्थवान परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। विज्ञान-बोध एक तात्विक और आधिभौतिक अर्थ को भी प्रकट करता है जो विज्ञान के दार्शनिक पक्ष का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है। विज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान प्रक्रिया है जो हमें 'विश्लेषण' की अर्थवत्ता की ओर ले जाती है। ये सभी क्षेत्र विज्ञान दर्शन की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

विज्ञान-बोध का स्वरूप और कविता का संदर्भ

कला और साहित्य के क्षेत्र में यह मान्यता सामान्य रूप से रही है कि विज्ञान और कविता का क्या सम्बन्ध ? आधुनिक संदर्भ में यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण है कि विज्ञान-बोध (अन्य ज्ञान-क्षेत्र) के द्वारा हम आधुनिकता-बोध को एक ऐसा परिप्रेक्ष्य दे सकते हैं जो सर्जनात्मक स्तर पर रचनाकार को नए क्षितिजों की ओर भी प्रेरित कर सकता है और साथ ही नयी रचनात्मक-दृष्टि भी दे सकता है। इस संदर्भ में विज्ञान-बोध और कविता के सम्बन्ध को भी रेखांकित किया जा सकता है और दोनों के बीच—"संवाद" की स्थितियों को देखा जा सकता है। यही बात विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों के बारे में कही जा सकती है। आज के युग में ज्ञान का यह अन्तर-अनुशासनाय रूप एक महत्वपूर्ण तथ्य है। आज की कविता ज्ञान के इस रूप को रचनात्मक संदर्भ दे सकती है। कम से कम रचनाकार को एक दृष्टि तो अवश्य ही दे सकती है। इस दृष्टि से विज्ञान-बोध (जो एक ज्ञान-क्षेत्र है) के रचनात्मक स्वरूप का विवेचन अपेक्षित है।

यह माना जाता है कि वैज्ञानिक प्रस्थापनाएं नीरस और सौन्दर्यहीन होती हैं, अतः उनका रचनात्मक साहित्य से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि जिस प्रकार धार्मिक और दार्शनिक प्रस्थापनाओं को काव्यात्मक संदर्भ दिया जाता रहा है, क्या इसी तरह विज्ञान-बोध को रचनात्मक संदर्भ नहीं दिया जा सकता है। विज्ञान-बोध से मेरा तात्पर्य केवल तकनीकी प्रगति से नहीं है या वैज्ञानिक सिद्धान्तों के विवरण मात्र से नहीं है। इससे मेरा तात्पर्य उन विचारों और धारणाओं से है जिसने विश्व, प्रकृति और मानव के रहस्यों को उद्घाटित और विवेचित किया और साथ ही, मानवीय वैचारिकता और चिन्तन को नए आयाम प्रदान किए। इस चिन्तन में तकनीकी प्रगति और भौतिक प्रगति का प्रसंगवश सहारा लिया जा सकता है, जो मानवीय विचारों तथा चिंतन में सहायक

हो। इस कार्य में कवि की कल्पनात्मक अनुभूति तथा विज्ञान की तर्काश्रित अनुभूति एक नयी मर्यादा या मूल्य को जन्म दे सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से जो मुख्य तत्व सामने आता है, वह है आधुनिक भाव-बोध का एक व्यापक स्वरूप। यह एक सत्य है कि विज्ञान-दर्शन ने आधुनिक भावबोध को एक नया आयाम दिया है। यहां पर आधुनिकता से मेरा तात्पर्य प्राचीन मूल्यों तथा अवधारणाओं से सर्वदा विच्छेद नहीं है। सच तो यह है कि बिना अपनी परम्परा को पहचाने सत्य रूप में आधुनिक हुआ ही नहीं जा सकता है। आधुनिकता एक गतिशील प्रत्यय है। वह एक प्रकार का "प्रतिमान" है जो परम्परा से जुड़कर और समसामयिकता से सम्बद्ध होकर जीवन दृष्टि का निर्माण करता है। अतः आधुनिकता एक दृष्टि है और विज्ञान-युग के संदर्भ में यह आधुनिकता का आवश्यक "मानदण्ड" है। अतः हम कह सकते हैं कि समसामयिक पूर्ण सजगता परम्परा की सही एवं सार्थक पहचान, बौद्धिक विश्लेषण की सार्थक घटनाओं, वस्तुओं तथा स्थितियों को सापेक्ष दृष्टि से देखना—ये कुछ ऐसे तत्व हैं जो आधुनिक भावबोध के रूप-निर्माण के सहायक अंग हैं। मूलतः वैज्ञानिक अन्तर दृष्टि के लिए "विश्लेषण" की धारणा को समझना अत्यन्त आवश्यक है। विज्ञान–दर्शन में विश्लेषण (एनालिसिस) वह पूर्ण तत्व है जो अवयवों या अंशों में विभक्त हो सके। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए एडिंगटन ने एक स्थान पर कहा है—"संसार के समस्त रूप-प्रकार जो दृष्टिगत होते हैं, उनका अस्तित्व *विभक्त अंशों के आपसी संबंधों पर आधारित है?*"[1] दूसरे शब्दों में आधुनिक भावबोध में क्षण, अणु और घटना का महत्व इसी दृष्टि से है कि वे कहां तक सम्पूर्णता की व्यंजना कर सके हैं? इस आणविक युग में एक संकेन्द्र *का सौवां हिस्सा मूलतः 'अनन्त' (इनफिनिटी) का द्योतक है।* मुक्तिबोध की कविता में क्षण और घटना का महत्व इस दृष्टि से समझा जा सकता है। सत्य में मुक्ति-बोध घटनाओं और क्षणों के अन्तराल में प्रवेश करते हैं और उनके द्वारा महत्तर स्थितियों तथा प्रभावों का एक जैविक रूप प्रस्तुत करते हैं। मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएं इसी अन्तर-भेदन प्रक्रिया का फल है, जिसमें बिम्ब, प्रतीक और मिथक समानान्तर रूप से, एक के बाद एक समीकरणों (इक्वेशन्स) का सृजन करते हुए चलते हैं। इस मत का विवेचन सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत किया जा चुका है।

विज्ञान-बोध के उपर्युक्त स्वरूप को ध्यान में रखकर एक अन्य तत्व की ओर संकेत करना आवश्यक है जिसका गहरा सम्बन्ध साहित्य कला से है। यह तत्व है—सौन्दर्य-बोध का। यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सौंदर्य केवल कला और साहित्य की बपौती नहीं है, पर उसका सम्बन्ध अन्य ज्ञान-क्षेत्रों से भी

है। यदि कोई अन्तर माना भी जा सकता है तो वह उसकी 'निहिति' या मात्रा का अन्तर हो सकता है। एक वैज्ञानिक भी विश्व और प्रकृति की घटनाओं में सौन्दर्य देखता है। परन्तु यह सौन्दर्यानुभूति बौद्धिक अन्तर्दृष्टि पर आधारित होती है। इसे मैं वैज्ञानिक का प्रातिभज्ञान कहता हूँ जो अनुभूति का पर्याय है। अक्सर यह माना जाता है कि वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं में सौंदर्य की अन्विति प्राप्त नहीं होती है और जब इन प्रस्थापनाओं को काव्य का विषय या अभिप्राय बनाया जाएगा, तब उनके द्वारा सौन्दर्यानुभूति कैसे होगी ? यह मत अपने में एक कष्ट कल्पना है। जैसाकि पहले कहा गया कि वैज्ञानिक सौन्दर्यबोध के लिए एक बौद्धिक अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है। वैज्ञानिक का सौन्दर्यबोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता तथा समरसता में निहित है। वह प्रो. आइंस्टाइन के शब्दों में विश्व के अन्तराल में एक पूर्व-स्थापित सामरस्य को (प्री इस्टेब्लिस्ट हारमनी) कार्यान्वित देखता है। सापेक्षवाद इसी सापेक्ष-समरसता को रेखांकित करता है जो ब्रह्माण्ड के सन्तुलन एवं कार्य-व्यापार के लिए एक अनिवार्य प्रत्यय है। रचनात्मक साहित्य भी इस समरसता के सौन्दर्य को ग्रहण कर सकता है जो कलाकार को नए भाव-बोध तथा नयी संवेदना की ओर अग्रसर कर सकता है। आज के रचनाकार के लिए एक ऐसे ही सौन्दर्यबोध की आवश्यकता है जिसमें उसकी भावात्मक एवं अवधारणात्मक सत्ताएँ एक अन्तर्दृष्टि से समन्वित हो, काव्य की भावभूमि को नए रचनात्मक संदर्भ दे सके। अतः किसी भी प्रकार के विषयों और अभिप्रायों को लिया जा सकता है, केवल इस शर्त पर उनका रचनात्मक रूपान्तरण संवेदना के धरातल पर हो सके। इस मानसिक और बौद्धिक स्थिति को डॉ. जगदीश गुप्त ने "नए स्तर पर रसास्वादन" की प्रतिष्ठा की संज्ञा दी है।[2]

कल्पना का यह रूप हमें अंग्रेजी काव्य के अनेक कवियों में प्राप्त होता है। इन कवियों ने अपनी कल्पना से नक्षत्र विद्या (एस्ट्रानमी) द्वारा उद्घाटित विश्व रहस्य को भेदने का प्रयत्न किया है। बटलर, पोप, मिल्टन तथा वर्ड्सवर्थ आदि रोमांटिक कवियों में एक सकारात्मक विज्ञान बोध के दर्शन होते हैं।[3] मिल्टन, पोप, बटलर और आधुनिक काल (1940 के बाद) टी. एस. इलियट तथा एजरा पाउण्ड की अनेक कविताओं में विज्ञान बोध के अनेक आयाम प्राप्त होते हैं। मिल्टन तथा पोप आदि ने ब्रह्माण्ड रचना तथा नवीन नक्षत्र-विद्या द्वारा प्राप्त विचारों को भावना के स्तर पर एक रचनात्मक सदर्भ दिया है। इन कवियों की कल्पना "नव-ज्योतिष" (न्यू एस्ट्रानमी) से काफी सीमा तक प्रभावित प्राप्त होती है। यह दूसरी बात है कि कोई कवि इस वैज्ञानिक प्रगति के प्रति आशावादी है, तो कोई शंकित है।[4] वृहद् ब्रह्माण्ड का यह रूप विज्ञान द्वारा उद्घाटित एक ऐसा

तत्व है जिसने कवियों तथा कलाकारों की कल्पना को ही प्रेरित नहीं किया, पर धर्म, दर्शन तथा अन्य ज्ञान-क्षेत्रों को प्रभावित किया। कदाचित इसी कारण रास्किन ने किसी स्थान पर कहा है कि यह रचनागत जगत प्रकृति के विराट क्रोड़ में केवल एक बिन्दु है जिसे हमारी कल्पना दुरदर्शन कर पाती है। मुक्तिबोध की कल्पना भी इसी विराट के साक्षात्कार की ओर यदा-कदा प्रेरित ज्ञात होती है। प्रसाद की कल्पना भी प्रकृति के बोध से प्रेरित ज्ञात होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग का नया ज्ञान रचनाकारों को प्रभावित करता है और उनकी कल्पना उस ज्ञान के रूपों को रचनात्मक संदर्भ भी देती है। यह बात हिन्दी, अंग्रेजी और फ्रेन्च भाषाओं के आधुनिक साहित्य (काव्य) के परिप्रेक्ष्य में एक सत्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक की कल्पना विश्वजनीन नियमों की खोज करती है और यह खोज केवल मात्र तार्किक प्रयत्नों से ही पहुँची नहीं जा सकती, उसके लिए कभी-कभी एक प्रातिभज्ञान (इन्ट्यूशन) की भी आवश्यकता होती है।[5] यह प्रातिभज्ञान आइंस्टाइन के अनुसार अनुभव-पदार्थ के प्रति एक बौद्धिक जागरूकता और प्रेम का भाव है। यह प्रकृति और विश्वपदार्थों के प्रति प्रेम का भाव उसी समय संभव है जब वैज्ञानिक और दार्शनिक के मन में एक आस्था का भाव हो और यह आस्था विज्ञान-प्रक्रिया के द्वारा उद्भूत हो।

इस प्रकार, केवल विज्ञान में ही नहीं, पर अन्य मानवीय क्रियाओं में "कल्पना" का कोई न कोई स्थान अवश्य होता है। जहाँ तक विज्ञान और कला का सम्बन्ध है उसमें कल्पना तथा अनुभव का एक समन्वित रूप ही अपेक्षित है" क्योंकि इन दोनों क्रियाओं का विकास अनुभव-सापेक्ष है। कवि या कलाकार की रचना-प्रक्रिया में इन दोनों तत्वों का विकास-अनुभव-सापेक्ष है। कवि या कलाकार की रचना-प्रक्रिया में इन दोनों तत्वों का सापेक्ष महत्व आधुनिक काव्य में यदा-कदा प्राप्त होता है। प्रसाद, पन्त, निराला, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, विनय, रामदेव आचार्य तथा धूमिल आदि कवियों में न्यूनाधिक रूप से वैज्ञानिक भावबोध तथा प्रस्थापनाओं के आधार पर कल्पना का सौंदर्य प्राप्त होता है। मुक्तिबोध तथा गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में यह प्रवृत्ति इतनी स्पष्ट है कि इस 'तत्व' को इनकी सृजनात्मकता से नकारा नहीं जा सकता है। मुक्तिबोध के काव्य के परमाणु दिक्काल, विश्व-संरचना तथा अन्य वैज्ञानिक विचारों का कवि की रचना-प्रक्रिया में तथा उसकी आत्मान्वेषण और आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया में एक अर्थवान रूपान्तरण प्राप्त होता है।

इन नवीन प्रतिष्ठा में रचनाकार को विज्ञान-बोध के विशाल क्षेत्र से सौन्दर्य-बोध अनेक अनचीन्हे आयाम मिल सकते हैं। मैक्सवेल के विद्युत-चुम्बकीय सिद्धान्त (एलक्ट्रोमैग्निटिक थियेरी), डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त, आइन्स्टाइन के सापेक्षवादी सिद्धान्त तथा नक्षत्र विद्या द्वारा उद्घाटित ब्रह्माण्डीय-रहस्य से कवि को सौन्दर्य तथा अनुभव के अनेक आयाम प्राप्त हो सकते हैं। इस दृष्टि से, मुक्तिबोध, यदा-कदा गिरिजाकुमार माथुर तथा विपिनकुमार अग्रवाल आदि कवियों में विज्ञान बोध का रचनात्मक संदर्भ प्राप्त होता है।

इस प्रकार, कवि या रचनाकार के लिए विश्व और प्रकृति एक व्यवस्था से युक्त प्रतीत होती है। रचनाकार की यह अन्तर्दृष्टि एक अन्य तत्व की अपेक्षा रखती है—वस्तु को उनके परिवेश या सम्बन्धों में देखना। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो विज्ञान ऐसे स्थलों पर विश्वजनीन आरोहण की ओर अग्रसर होता है। यह आरोहण कला और साहित्य का भी ध्येय है। सूलीवेन ने इस आरोहण को केवल विज्ञान में ही माना है, साहित्य और कला में नहीं।[6] यह मत अपने में एकाकी है। इसका कारण यह है कि कलाकार भी अपनी सर्जना के माध्यम से इस "आरोहण" या चेतना के ऊर्ध्वगामी क्षेत्रों का साक्षात्कार करता है। फिर भी, कहीं न कहीं वह संधि स्थान अवश्य है जहां पर वह खड़े होकर दोनों में सामन्जस्य ला सकता है। यह सामन्जस्य चिंतन पर आश्रित एक बौद्धिक अन्तर्दृष्टि है और विज्ञान-युग की आधुनिकता का यह एक महत्वपूर्ण तत्व है। रचना-प्रक्रिया में यह सामन्जस्य भी प्रतिफलित होता है अथवा हो सकता है क्योंकि मुक्तिबोध का काव्य आधुनिकता की इसी "दृष्टि" का परिचायक है। विज्ञान-बोध का यह क्षेत्र रचनाकार के लिए एक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है, जिसमें संवेदना का एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्राप्त होता है। मुक्तिबोध की अनेक कविताएं इसी संवेदना को प्रकट करती है और उनका सौन्दर्यबोध एक व्यवस्था को देखता है। रचना-प्रक्रिया में एक जैविकता लाता है और काव्य-समीकरणों की एक सतत् गतिशीलता को रेखांकित करता है। मुक्तिबोध की कविता एक गतिशील विचार समीकरण की कविता है।

वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में कल्पना का एक विशेष संदर्भ है। यहां कल्पना का एक व्यापक अर्थ है क्योंकि कल्पना की आवश्यकता कला और विज्ञान दोनों के लिए समान रूप से है। यह दूसरी बात है कि विज्ञान और कला में कल्पना की निहिति में अन्तर हो सकता है। यह अन्तर केवल इतना है कि वैज्ञानिक अपनी कल्पना को अबोध रूप नहीं दे सकता है, क्योंकि उसे तर्क और प्रयोग के द्वारा अनुशासित रहना पड़ता है और उसी के

आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना होता है, परन्तु कलाकार की कल्पना इतनी सीमित या आबद्ध नहीं होती है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि कवि की कल्पना उच्छृंखल हो जाए, यथार्थ और सत्य को इतना अतिरंजित कर दे कि कल्पना का सार्थक रूप ही लुप्त हो जाए। मुक्तिबोध का काव्य कल्पना के इसी रूप को व्यक्त करता है। मुक्तिबोध की कल्पना का स्वरूप यथार्थ और वास्तविकता के आधार पर गतिशील होता है। इस तत्व का पूर्ण विवेचन यथास्थान किया जाएगा। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि कवि को विज्ञान की चिन्ताधारा को व्यंजित करते समय संयम से अवश्य काम लेना पड़ेगा। यदि इसे और भी स्पष्ट रूप में कहा जाए तो कवि को अपनी कल्पना में बौद्धिक संयम से काम लेना पड़ेगा। इसे आज के परिवेश में नवीन भाव बोध की संज्ञा दी जा सकती है।

दिक्काल की विराटता का एक रूप लें जो दिक्काल थियोरम की कल्पना करता है और उलझे हुए प्रसगो मे सत्य की अनुभूति कराता है —

हमें था चाहिए कुछ यह
कि जो गंभीर ज्योतिषशास्त्र रच डाले।
नया दिक्काल थियोरम बन
प्रकट हो भव्य सामान्यीकरण
× × ×
कि उससे एक गहरा फलसफा
तैयार हो जए
कि पूरा सत्य
जीवन के विविध उलझे प्रसंगों में
सहज हो दौड़ता आए।[7]

दूसरी ओर माथुर जी ने 'विराट्' और 'आदमी' को भौतिकी और नक्षत्र-विद्या के आधार पर रचनात्मक संदर्भ दिया है—

लाखों ब्रह्माण्डों में, अपना एक ब्रह्माण्ड
हर ब्रह्माण्डों में कितनी ही पृथ्वियाँ
कितनी ही भूमियाँ
यह है अनुपात, आदमी का विराट से।[8]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि काव्य-भावबोध में वैज्ञानिक कल्पना सर्जन के नए क्षितिजो का उद्घाटन कर सकती है। इन्हीं नये अनुभवों के

आधार पर ज्ञान का स्वरूप मुखर होता है जो विचार के रचनात्मक सदर्भ को प्रस्तुत करता है। आधुनिक विचारों का संघर्ष एक सत्य है और साथ ही उनके परीक्षण का समय भी है। विचारों का संघर्ष सदैव "ज्ञान" का उन्नायक होता है और मानवीय ज्ञान प्रायः संघर्ष की कसौटी पर ही खरा उतरता है। अतः आधुनिक विज्ञान-दर्शन का औचित्य इडिंगटन के शब्दो मे इस बात मे समाहित है कि वह कहां तक आध्यात्मिक अनुभव को एक जीवन-दर्शन के रूप में स्थान दे सका है।[9] यदि मानव-मूल्यों का जीवन मे स्थान है, तो इस आतंरिक मूल्य मानव अस्तित्व के लिए, उसकी अस्मिता के लिए आवश्यक है क्योंकि मानव एक विवेकशील (होमा सिम्बालिकस) एव मानसिक प्राणी है और मानसिक विकास की अनेक सम्भावनाएँ उसमे विद्यमान है, इसी से वह विशिष्ट है, अन्य जीवधारियो की सापेक्षता मे अक्सर यह भी कहा जाता है कि मूल्य विघटनशील है और यह विघटनशीलता "मूल्य" का विनाश नहीं है, पर परिवेश और ज्ञान की सापेक्षता मे उसका पुनर्मूल्यांकन अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा है। मूल्य गतिशील, विकासात्मक और अनुकूलित (एडाप्टिव) होते हैं और इस दृष्टि से मूल्य विकास-प्रक्रिया के विभिन्न अंग हैं, क्योंकि विकास की प्रक्रिया क्रमशः मूल्यो का साक्षात्कार करती है। मार्क्सवाद, गांधीवाद, अस्तित्ववाद, प्रेम और करुणा आदि मूल्यो का विकास-प्रक्रिया मे न्यूनाधिक स्थान है—इन सभी मूल्यो और अवधारणाओ ने 'यथार्थ' और 'सत्य' के साक्षात्कार मे सहायता दी है। इस साक्षात्कार की प्रक्रिया का महत्व कवि और रचनाकार को एक 'गति' देता है क्योंकि विचारो और अवधारणाओ (मूल्यों) से वह 'संवेदना' के धरातल पर टकराता है, उनसे जूझता है और सृजन की नयी दिशाओं की खोज करता है।

संदर्भ-संकेत

1. फिलासफी ऑफ फिजिकल साइंस, सर आर्थर एडिंग्टन, पृ. 122
2. नयी कविता (3), पृ. 5
3. देखें मधुमती (अप्रेल, 77) में मेरा प्रकाशित लेख "अंग्रेजी का रोमांटिक काव्य और विज्ञान-बोध" जिसमे विज्ञान बोध के रचनात्मक संदर्भ को रेखांकित किया गया है।
4. साइंस एण्ड इमेजिनेशन मारजोरी, निकालसन, पृ. 28
5. इमेजिनेशन एण्ड दि ग्रोथ ऑफ साइंस, जॉन मरे, पृ. 10
6. दि लिमिटेशन ऑफ साइंस, जे. सूलीवेन, पृ. 772
7. चांद का मुंह टेढ़ा है, मुक्तिबोध, 'नक्षत्र-खण्ड', पृ. 146
8. शिला पंख चमकीले, पृ. 65
9. साइंस एण्ड दि अनसीन वर्ल्ड, इडिंग्टन, पृ. 29

अंग्रेजी का रोमांटिक काव्य और विज्ञान-बोध

आधुनिक कविता को एक नये परिप्रेक्ष्य में उसी समय रखा जा सकता है, जब उसका मूल्यांकन नये ज्ञान-बोध के प्रकाश में किया जाये। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कविता का सम्बन्ध अन्य अनुशासनों से भी है, वह केवल मात्र अपने ही कटघरे में बंद रहकर, ज्ञान के उस अन्तर-अनुशासनीय रूप को नकार कर या उससे उदासीन होकर, आधुनिक-भावबोध को ग्रहण करने में असमर्थ रहेगी। शर्त केवल यह है कि यह "ग्रहण" संवेदना के धरातल पर हो और उसका एक सार्थक एवं अर्थवान "रचनात्मक संदर्भ" हो। प्रत्येक ज्ञान-क्षेत्र का अपना एक अस्तित्व होता है, उसकी अपनी अस्मिता होती है और कविता भी ज्ञान का एक ऐसा क्षेत्र है, जो ज्ञान और अनुभव का संवेदना के धरातल पर एक रचनात्मक रूपांतरण (ट्रांसफार-मेशन) होता है। अंग्रेजी का रोमांटिक काव्य और हिन्दी का छायावादी-काव्य इस अन्तर-अनुशासनीय "संवाद" को रेखांकित करता है, जो सृजन और सौंदर्य की सम्भावनाओं को, अपने-अपने युग की सापेक्षता में विकसित कर सका। यही बात नयी कविता और समकालीन कविता के बारे में न्यूनाधिक रूप में सत्य है।

इस संदर्भ में अंग्रेजी कविता की रोमांटिक धारा का मूल्यांकन अपेक्षित है, जिसने विज्ञान-बोध के नए क्षितिजों से प्रभावित होकर काव्य-सर्जना के नये आयामों को ही उद्घाटित नहीं किया, बल्कि सौंदर्य-चेतना के व्यापक परिप्रेक्ष्य को भी साकार किया। अंग्रेजी कविता में कविता और विज्ञान-एक दूसरे के पूरक हैं, उनमें "संवाद" की एक ऐसी दशा है, जो इस बात को निर्मूल सिद्ध कर देती है कि कविता और विज्ञान का कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है। अंग्रेजी कवि न्यूटन, गैलीलियो तथा कोपरनिकस आदि से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए थे, जिससे उनकी "कल्पना" को नया आयाम प्राप्त हुआ।

मध्यकाल के अन्तिम चरण में यूरोप ने वैज्ञानिक आविष्कारों तथा प्रस्थाप-नाओं का एक सर्जनात्मक स्वरूप हमें मिल्टन, शेली, और कीट्स आदि की कविताओं

में प्रच्छन्न रूप से दिखायी देता है। कहीं कहीं पर इन कवियों के भावबोध पर वैज्ञानिक-बोध का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि उन्होंने वैज्ञानिक विचारों का संवेदनात्मक रूप प्रस्तुत करते हुए विचारों तथा प्रस्थापनाओं को गहराई से हृदयंगम किया। इसी के साथ एक अन्य तत्व मानववाद का अध्ययन तथा उसका विस्तार है, और इस विस्तार में साहित्य और काव्य एक सहायक तत्व के रूप में सामने आये हैं। इस प्रकार रोमांटिक कविता की भावभूमि में जहां एक ओर मानववाद तथा आदर्श-यथार्थ का समन्वय मिलता है, वहीं इस कविता में विज्ञान-बोध की एक गतिशील रचनात्मकता के दर्शन भी होते हैं।

रोमांटिक कवियों के सामने सबसे पहला प्रश्न 'विज्ञान क्या है ?" सामने आया, और उन्होंने इसे यथार्थ अनुभव पर आधारित "ज्ञान" की संज्ञा दी। अतः विज्ञान भी एक "ज्ञान" प्रकार है, जो विश्लेषण और प्रयोग की आधारशिला पर विकसित हुआ है। मिल्टन ने "विज्ञान" को इसी अर्थ में ग्रहण किया है, जब वह कहता है—

ओ सैक्रेट, वाइज एण्ड
विज्डम गिविंग प्लांट
मदर आफ साइंस![1]

(ओ पवित्र, विवेक प्रदान करने वाले वृक्ष विज्ञान की माता) इस कथन में विज्ञान के प्रति एक आस्था है, जो कवि के अन्तर्मन को आन्दोलित करती है। दूसरी ओर, ब्लेक ने विज्ञान को कल्पनात्मक सर्जना का शत्रु माना है। ब्लेक के इस मत का कोई विशेष महत्व रचना-प्रक्रिया के इस संदर्भ में नहीं है, क्योंकि विज्ञान-बोध ने संदेह को अवश्य जन्म दिया, अनास्था को नहीं। संदेह आपको सक्रिय बना सकता है, अनास्था निष्क्रिय और जड़। यह बात हमें जॉन डन की कविताओं से स्पष्ट होती है। क्योंकि वह विज्ञान और नक्षत्र-विद्या (एस्ट्रानमी) से प्राप्त "ज्ञान" को निष्क्रिय अविश्वास के रूप में न देखकर उसे एक सक्रिय विश्वास की ओर ले गया। विज्ञान संदेह को रेखांकित करता है, और साथ ही यह स्पष्ट करता है कि मानवात्मा कदाचित् पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहेगी। डन की आस्था का रूप तर्क पर आधारित था, और इसी का फल था कि वह 'नव-दर्शन' (विज्ञान) को संदेहवादी मानता था, जिसने अग्नि, सूर्य और पृथ्वी की मान्यताओं के प्रति प्रश्न चिन्ह लगाया और मानव विवेक को एक नयी दिशा की ओर गतिशील किया।[2] इससे यह साफ दृष्टिगत होता है कि इस कथन में जहां एक ओर विज्ञान की प्रगति के प्रति एक प्रश्न चिन्ह है, वहीं मानवीय ज्ञान और क्रिया के प्रति एक आस्था भी है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि डोन

(Donne) तथा मिल्टन आदि कवियों की सर्जनात्मक कल्पना विज्ञान-बोध से परिचालित थी, उसके उस रूप से जो ब्रह्माण्ड के नये रहस्यों को उद्घाटित कर रही थी। कुछ इसी प्रकार की स्थिति हमें पोप में भी प्राप्त होती है। पोप न्यूटन को आदर्श की दृष्टि से देखता था, पर दूसरी ओर वह विज्ञान के नित बढ़ते हुए ज्ञान से चिंतित था। अंत में आदमी का अपने में प्रत्यावर्तन इस समस्त प्रगति की विडम्बना है, जो आदमी के सामने एक चुनौती के रूप में आ रहा है। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य इस संबंध में यह भी रहा है कि रॉयल सोसायटी एक ऐसा मंच था, जहां वैज्ञानिक और साहित्यकार आपस में मिलते थे और उनके मध्य एक "संवाद" की स्थिति रहती थी।[3]

इस संदेह मिश्रित आस्था का रूप नक्षत्र-विद्या द्वारा उद्घाटित रहस्यों के प्रति एक जिज्ञासा के रूप में प्राप्त होता है। कवि की कल्पना इन रहस्यों एवं तथ्यों के प्रति सचेत थी। पॅस्कल के अनुसार यह समस्त जगत ब्रह्माण्ड का एक अंशमात्र है, जिसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानवीय चेतना सदैव गतिशील रहती है। कवि के शब्दों में—

> वे अमाप्य विस्तृत "गहनता"
> को देखते हैं
> जो समुद्र के समान भयंकर
> गहन और अर्थहीन है।[4]

अंग्रेजी कवि के लिए यह दिक् की विराटता गहन तो अवश्य है, पर अर्थहीन है। निराला के लिए यह दिक् अर्थहीन नहीं है, वह मानव के लिए एक चुनौती है, क्योंकि कवि ने जिस भाषा का प्रयोग किया वह अर्थवत्ता को संकेतित करती है—

> घूमायमान वह घूर्ण्य प्रसार
> घूसर समुद्र शशि ताराहर
> सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व,
> अधर क्षर रेता।[5]

गैलीलियो तथा न्यूटन के आविष्कार ने अनेक कवियों को केवल ही नहीं किया, पर उनकी काव्य-संवेदना को आंदोलित एवं प्रेरित किया महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सर टामस ब्राउन, विज्ञानवेत्ता केप्लर रहस्यात्मक गणित का प्रेमी था और उसकी संवेदना और विचारधारा

भावबोध के निकट थी जो अपने मे एक विशिष्ट देय है।[6] गैलीलियो ने "नये तारो" की खोज की, और आकाशगंगा के प्रति नयी जानकारियां दी। आकाश गंगा भी एक निहारिका है, जिसका प्रत्येक तारा सूर्य है, और प्रत्येक सूर्य का अपना सौर मण्डल है। यही नही, उसने चन्द्रमा के धरातल के प्रति ज्ञान दिया। इन नवीन तथ्यो ने कवियों की कल्पना को आन्दोलित किया। बटलर, पोप, मिल्टन आदि कवियों ने इन तथ्यों को अपनी काव्य संवेदना में रूपांतरित किया। बटलर ने नये तारे की खोज पर आश्चर्यमिश्रित व्यंग्य किया, जो कम-से-कम, उस समय की काव्य-संवेदना को एक नया आयाम देती है और साथ ही यह स्पष्ट करती है कि कविता तथ्यो और विचारों को रचनात्मक संदर्भ दे सकती है, और देती है। आधुनिक भावबोध के स्वरूप पर विचार करते हुए विज्ञान-बोध के इस तत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है। बटलर की प्रतिक्रिया इस प्रकार है—

"एक कामेट और वह भी बिना दाढ़ी के या एक तारा, जो पहले कभी नहीं दिखाई दिया।"[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि "नवीन ज्योतिष या नक्षत्र विद्या" से अनेक अंग्रेजी कवि प्रभावित हुए और उन्होने काव्य के संवेदनात्मक क्षितिज को अधिक व्यापक बनाया। मिल्टन, पोप, बटलर, कौट्स, जॉन डन आदि ने नवीन ज्ञान के सृजनात्मक दायित्व को निभाया, और इस प्रकार वे अपनी युग की संवेदना को काव्य की भाव-भूमि पर रूपांतरित कर सके। जॉन डन ने नक्षत्रों के जीवन पर जो पंक्तियां लिखी हैं, वे विश्व के एक सत्य की ओर संकेत करती है—

"उन नक्षत्रों-समूहों में नये तारे उत्पन्न होते हैं,
और पुराने हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।[8]

यह सृजन और विलय का क्रम निरन्तर चला करता है, जिसे कवि ने धरातलीय निरीक्षण के द्वारा व्यक्त किया है, पर इस क्रम को जितनी गहराई के साथ प्रसाद ने कामायनी मे ग्रहण किया है, वह अपने मे एक ब्रह्माण्डीय सत्य है —

प्रत्येक नाश, विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही।

(कामसर्ग, पृ. 73)

ब्रह्माण्ड के रहस्यो तथा उनके स्वरूप को लेकर मिल्टन का पैराडाइज लॉस्ट एक महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें विश्व का टेलीस्कोपीय स्वरूप प्राप्त होता है, और साथ ही ब्रह्माण्ड की विराटता का जो चित्र प्राप्त होता है, वह न्यूटन तथा गैली-

लियो की प्रस्थापनाओं से प्रेरित ज्ञात होता है। "पैराडाइज लॉस्ट" में मिल्टन ने धरती और चन्द्रमा का टेलिस्कोपीय परिदृश्य प्रस्तुत किया है, और दिक् में उनके सापेक्ष सम्बन्ध को रेखांकित किया है, जहां पृथ्वी एक बड़े "नक्षत्र" के रूप में और चन्द्रमा को उसके समीप एक छोटे आकार के रूप में चित्रित किया गया है—

> दिस पेन्डेन्ट वर्ल्ड, इन बिगनस एज ए स्टार,
> आफ स्मालस्ट मैग्नीच्यूड
> क्लोज बाइ दी मून।"

इसी प्रकार, देवदूत चन्द्रमा में प्राप्त धब्बों या चिन्हों की अर्थवत्ता को यह कहकर प्रकट करता है कि ये चिन्ह (भारतीय मत से कलंक) मेघ-समूह हैं और ये मेघ बरस सकते हैं, जो चन्द्रमा की स्वच्छ और कोमल धरती पर फल उत्पन्न कर सकते हैं : पंक्तियां इस प्रकार हैं—

> तुम उसके (चन्द्रमा) धब्बों को देख रहे हो,
> जो मेघों के समान है,
> और ये मेघ बरस सकते हैं,
> और यह वर्षा उसकी कोमल मिट्टी पर फल को उत्पन्न करती है,
> किसी को खाने हेतु।

मिल्टन की यह विज्ञान-सम्मत दृष्टि सृष्टि के संदर्भ में भी प्राप्त होती है। एक वृहद् पिंड के ग्रहों की क्रमिक रूप से संरचना जिसमें सबसे पहले पृथ्वी, फिर सूर्य और अंत में आकाशगंगा का सृजन—ये सब प्रक्रियाएं "नवीन ज्योतिष" के अनुकूल थी। मिल्टन के काव्य में दिक् की विराटता को एक दैवी स्वरूप दिया गया है, जिसकी परिधि ही उसकी विराट्ता है।

> वृहद् विस्तार ही तेरी सीमा है
> यही तेरी उचित परिधि है, ओ विश्व ![10]

कुछ इसी प्रकार की विराटता के दर्शन हमें प्रसाद की इन पंक्तियों में प्राप्त होते हैं।

> कोटि कोटि नक्षत्र शून्य के महाविवर में
> लास रास कर रहे लटकते हुए अधर में।[11]

यही कारण है कि "पैराडाइज लास्ट" को पहला आधुनिक ब्रह्माण्डीय-काव्य कहा गया है, जिसमें अन्तर्नक्षत्रीय दिक् की पृष्ठभूमि में एक नाटक का अभिनय

हुआ है। प्रोफेसर डेविड मैसन का मत इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, जब वह शेक्सपीयर और मिल्टन की तुलना दिक् और काल की दृष्टि से करता है। वह कहता है "शेक्सपीयर "काल" के संसार में रहता था, जबकि मिल्टन दिक् के विश्व में रहता था।"[12]

मिल्टन के अतिरिक्त शेली दूसरा रोमांटिक कवि है, जिसकी कविताओं में वैज्ञानिक विचारों का काव्यात्मक स्वरूप यदा-कदा प्राप्त होता है। ए.एन.ह्वाइटहेड का तो यहां तक मत है कि शेली एक ऐसा कवि है जो सबसे अधिक वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं से प्रभावित हुआ। शेली की "बादल" कविता जल के विभिन्न रूपांतरणों को व्यक्त करती है, और "पदार्थ" के उस स्वरूप की ओर संकेत करती है। "पदार्थ" रूपांतरित ही होते हैं, न कि पूर्णतया नष्ट—

मैं पृथ्वी और जल की पुत्री हूं
मैं समुद्र और तट के छिद्रों
से गुजरती हूं,
मैं परिवर्तित हो सकती हूं,
पर नष्ट नहीं।

दूसरी ओर वाष्पीकरण की प्रवृत्ति विस्तारवादी है, और इस विस्तार को कवि ने "आह्लाद" शब्द से रचनात्मक संदर्भ प्रदान किया है।

वाष्पीय आह्लाद
जो सीमित नहीं किया जा सकता है।

शेली की काव्य-प्रक्रिया को ध्यान मे रखकर एक बात जो साफ स्पष्ट होती है, वह यह है कि प्रकृति एक जैविक (आरगैनिक) अवधारणा है, जिसमें घटनाओं का एक प्रक्रियात्मक स्वरूप प्राप्त होता है। इसी के साथ विज्ञान-बोध को सामान्यतः वस्तुपरक माना गया है, पर आइस्टीन, रसल, फ्रेड हॉयल, फिनमैन, इडिंगटन आदि वैज्ञानिक दार्शनिकों ने विज्ञान के एक, महत्वपूर्ण पक्ष उसके विषयीगत या अध्यांतरिक पक्ष को भी समान महत्व दिया है। वस्तुगत या भौतिकवादी दृष्टि ने विश्व और प्रकृति को यांत्रिक रूप से देखा, पर आधुनिक (19 या 20 शताब्दी) ने केवल इसी को सत्य नहीं माना, उसने प्रकृति और विश्व को अधिक गहराई से देखा। आइंस्टीन तथा इडिंगटन ने दिक् और काल को सापेक्ष माना और इन दोनो प्रत्ययों के अस्तित्व को दृष्टा की सापेक्षता में स्वीकार किया। यांत्रिक दृष्टिकोण के प्रति इडिंगटन का मत है—प्रत्येक वस्तु के यांत्रिक विवेचन का त्याग निष्क्रिय उपपत्तियों को समाप्त करने में समर्थ हो सका और

क्रमशः अभिज्ञानपरक उपपत्तियों को स्थान दे सका।[13] हिन्दू-दर्शन का मुख्य स्वर भी विषयीगत है तथा पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ड ने चेतना के प्रकारों को अपना सापेक्षता में ही सत्य माना है। अतः दिक् काल पदार्थ तथा नियम की धारणाएं मूलतः सापेक्षिक और आध्यात्तरिक (विषयीगत) है।[14] विज्ञान के इस पक्ष का संकेत हमें शेली की कविता मॉट ब्लेक। में प्राप्त होता है—

> वस्तुओं का अनंत विश्व
> "मन" से प्रवाहित होता है
> और द्रुतगामी लहरों में
> परिक्रमा करता है।[15]

इसी तथ्य को प्रसाद ने भी रचनात्मक संदर्भ प्रदान किया है—

> मैं की मेरी चेतना
> सबको ही स्पर्श किये सी
> (कामायनी, आनन्दसर्ग)

और एक प्रतिक्रिया पंत की—

> भौतिक पद ही एकमात्र
> मानव का अंतर-दर्पण।"
> (युगवाणी पृ. 31)

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आंग्ल कविता में वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं का एक रचनात्मक संदर्भ प्राप्त होता है। यह एक दूसरी बात है कि विचार के धरातल पर किसी कवि ने वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा प्रस्थापनाओं को नकारात्मक रूप में अथवा सकारात्मक रूप में ग्रहण किया हो। रोमांटिक काव्य के अनुशीलन से एक तथ्य यह भी प्रकट होता है कि विज्ञान-बोध ने सौन्दर्य और कल्पना के नये रूपाकारों की ओर कवियों को प्रेरित किया और इस प्रकार नये ज्ञान के प्रकाश में नये मुहावरों का प्रयोग किया।

संदर्भ-संकेत

1. पैराडाइज लास्ट, मिल्टन, नवां (IX) सर्ग।
2. जॉन डन की काव्य पंक्तियां है—

   एंड न्यू फिलासफी काल्स ऑल इन डाउट,

मे मूल्य-चेतना इसी विश्व-ज्ञान की सापेक्षता में विकसित होती है। दूसरी ओर बर्ट्रेन्ड रसेल ने एक अन्य तत्व की ओर भी संकेत किया है कि 'जैसे-जैसे तकनीक का विकास होता गया, वैसे-वैसे विज्ञान क्रमश: संसार मे परिवर्तन का आधार बनता गया।' (दि इम्पैक्ट आफ साइन्स ऑन सोसाइटी, पृ.21) इस प्रकार 'मूल्य' की चेतना मे दो तत्व एक साथ चलते हैं—एक ज्ञान का तत्व और दूसरे ज्ञान पर आश्रित तकनीकी प्रगति। आधुनिक सन्दर्भ में ये दोनों तत्व एक साथ मिले हुए हैं। यही कारण है कि पारम्परिक मूल्यों का रूप, वैज्ञानिक प्रभाव के कारण या तो परिवर्तित एवं संशोधित होता जा रहा है अथवा उन्हें नकारा जा रहा है। इसी के साथ नए युग-सन्दर्भ के अनुसार नए मूल्यों का भी सृजन हो रहा है।

शक्ति-मूल्य और ज्ञान-मूल्य (प्रेम-मूल्य)

वैज्ञानिक प्रगति ने अनेक ऐसे उपादानों की रचना प्रस्तुत की है, जो शुभ भी हैं तथा अशुभ भी। मानव-समाज की नई संरचना इसी तथ्य को लेकर विकसित हो रही है। एक ओर वैज्ञानिक प्रजनन-पद्धति और तकनीकी प्रगति है जो मानवीय सन्दर्भ में 'मूल्यवान' उथ्य तो अवश्य है, पर इसके साथ ही वे मानवीय सन्दर्भ तथा समाज को दूषित एवं कुंठित भी करते हैं। यहां पर मनोभावों के प्रश्न को भी उठाया जा सकता है। मानवीय धरातल पर वैज्ञानिक-रचना का मनोभाव तभी प्रशंसनीय होता है, जब वह मानव जीवन को 'मूल्यवान' बनाने वाले अन्य प्रमुख मनोभावो (यथा श्रद्धा, प्रेम, दया, धृति आदि) को कुंठित नहीं कर देता। दूसरी ओर यदि उसे अन्य प्रमुख मनोभावो को रोकने की स्वतन्त्रता मिल जाती है, तब विज्ञान (या कोई भी ज्ञानक्षेत्र) एक आतंकवादी का रूप ग्रहण कर लेता है। शान्तिवादी एवं मानवतावादी वैज्ञानिक-दार्शनिको के लिए यह एक ऐसा खतरा है जो निरंकुश अत्याचार तथा व्यवस्था को जन्म देने मे एक भूमिका अदा करता है। (दी साइन्टिफिक इन्साइट, रसेल, पृ.200) इस भयंकर स्थिति को क्रियाशील करने के लिए 'स्वार्थमय-मूल्यों' का भी आरम्भ हो जाता है।

यहां पर ज्ञान के स्वरूप पर विचार अपेक्षित है। इधर एक-दो शताब्दी से विज्ञान का विकास एक आन्तरिक यात्रा का सूचक है, जो अभी पूरा नहीं हुआ है। सत्य में, 'ज्ञान' के जिस 'प्रेम' की देन यह विज्ञान है, वह ज्ञान एक "व्यवस्थित" एवं 'तार्किक' ज्ञान है। ज्ञान-विज्ञान के साथ दो प्रमुख मनोभाव जुड़े रहते हैं, जिनसे दो प्रकार के 'मूल्यो' का संकेत मिलता है। एक मनोभाव 'प्रेम और मनन' से जुड़ा रहता है जो किसी 'वस्तु' या 'प्रत्यय' के प्रति ज्ञान इसलिए प्राप्त करना चाहता है कि उस 'पदार्थ' के प्रति उसका अगाध प्रेम है। यह ज्ञान चिंतनपरक है (प्रेम) जो दार्शनिक भावभूमि को स्पर्श करता है। यह ज्ञान मानव, जगत् और विश्व के प्रति

प्रतिबद्ध है। दूसरा मनोभाव 'पदार्थ' के ऊपर अधिकार करना चाहता है अथवा दूसरे शब्दों में, ज्ञान के द्वारा "शक्ति" प्राप्त करना चाहता है। यह सच है कि विज्ञान के विकास के साथ यह 'शक्ति-मूल्य' अधिक विकसित हुआ है और इसका परिणाम यह हुआ है कि 'प्रेम' भाव को इस शक्तिभाव ने इस कदर आक्रान्त कर दिया है कि वैज्ञानिक ज्ञान का चिंतनपरक या प्रेममय रूप पृष्ठभूमि में चला गया है। इसी के साथ उद्योगवाद तथा राजतंत्रों के उदय तथा इनके नियंत्रण में यह 'शक्ति-मूल्य' एक स्वार्थ-मूल्य में परिणत हो गया। इस शक्तिमूल्य के दूषित प्रभाव ने मानवता को एक नकारात्मक वात्याचक्र में ढकेल दिया है।

विज्ञान और प्रेम

इसके विपरीत विज्ञान का प्रेममय रूप (चिंतन) कहीं अधिक शुभपरक है, क्योंकि ज्ञान का लक्ष्य विनाश नहीं है, पर नव सृजन और साक्षात्कार है। विज्ञान का यह पक्ष अनेक वैज्ञानिक दार्शनिकों के द्वारा स्थापित किया जाना शुरू हो गया है, जिनमें रसेल, आइन्स्टाइन, फ्रेड हॉयल, ए. एन. ह्वाइटहेड, सी. ई. एम. जोड आदि प्रमुख हैं। इन विचारकों ने विज्ञान के इस 'प्रेम-मूल्य' को सर्वोपरि माना है, जो हमें मानव, ब्रह्मांड तथा अदृश्य प्रत्ययों के प्रति सोचने को केवल विवश ही नहीं करता है, पर विश्व के प्रति एक अन्तर्दृष्टि को जन्म देता है। वैज्ञानिक अन्वेषणों ने मानव को एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान की है, जो विश्व-रचना और मानवेतर प्राणी विकास के आयामों को एक नए मूल्य-सन्दर्भ की चेतना से आन्दोलित कर रही है।

विज्ञान अथवा किसी भी ज्ञान का 'मूल्य' सत्य का अन्वेषण है अथवा सत्य तक पहुंचने की आकांक्षा जो सदैव बनी रहे। क्योंकि 'सत्य' की कोई सीमारेखा नहीं है—'वह' अगाध और सीमाहीन है। रहस्यवादी, कलाकार, कवि और दार्शनिक भी सत्यान्वेषी होते हैं। यह दूसरी बात है कि उनका 'अन्वेषण' उस पद्धति को स्वीकार न करता हो जो पद्धति विज्ञान के द्वारा स्वीकार की जाती है। इस कारण ये लोग किसी भी दशा में हमारे लिए कम सम्मान के पात्र नहीं हैं। क्योंकि एक वैज्ञानिक के समान वे भी 'ज्ञान' के अन्वेषी हैं। प्रेम और 'ज्ञान' के प्रत्येक स्वरूप के द्वारा हम 'प्रिय' और 'ज्ञेय' का साक्षात्कार करते हैं। यह साक्षात्कार शक्ति प्राप्त करने के निमित्त नहीं होता है, वरन् इसका सम्बन्ध एक आन्तरिक उल्लास और विश्व कल्याण के लिए होता है। प्रेम के इस धरातल पर 'ईश्वर' को ज्ञानात्मक अनुभूति भी अनन्त जीवन का साक्षात्कार है। अतः 'ज्ञान' स्वयं में एक 'मूल्य' है और इस दृष्टि से, विज्ञान तथा अन्य ज्ञान क्षेत्रों का 'मूल्य' ज्ञान-सापेक्ष है जो भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार के क्षेत्रों को स्पर्श करता है। यही विज्ञान का तात्त्विक रहस्यवाद है, जिसमें 'प्रेमी' और 'प्रिय' का सम्बन्ध,

ज्ञान-प्रेम के आयाम को अथवा उसके 'युग्म' को एक तार्किक रूप में प्रकट करता है। विज्ञान का आरम्भ इसी प्रेम-सम्बन्ध का रूप है।

तार्किक रहस्यवाद

विज्ञान का यह तार्किक रहस्यवाद विज्ञान में 'प्रेम तत्व' की मीमांसा प्रस्तुत करता है, जो एक नवीन वैज्ञानिक और सांस्कृतिक चेतना को रूपायित करता है। यहां पर प्रेम का स्वरूप विचारात्मक कम और धारणात्मक अधिक है। इस प्रेम-सम्बन्ध का विकास क्रमिक रूप से चार दशाओं से होता है। प्रथम अवस्था में 'वस्तु' (यहां पर 'वस्तु' का अर्थ पदार्थ नहीं है, पर वे समस्त दृश्य और अदृश्य क्षेत्र जिनकी ओर विज्ञान गतिशील होता रहा है) के प्रति ज्ञान का विश्वास उत्पन्न होता है जो अन्वेषक को उस प्रत्यय या 'वस्तु' की ओर अग्रसर करता है, जो दूसरी अवस्था में अन्वेषक को एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। इस दूसरी अवस्था में अन्वेषक अपने अन्वेष्य या साध्य के प्रति तादात्मय का अनुभव करता है। इस एकात्म भाव की तीसरी अवस्था में विषय और विषयी का भेद मिट जाता है और अन्वेषक चौथी अवस्था में उस तल्लीनता को प्राप्त होता है, जहां वह दिक् और काल से परे चला जाता है। यही आनन्दावस्था है। (देखिए मिस्टिस्जिम एण्ड लाजिक, बर्ट्रेन्ड रसेल, पृ. 10-13)

यह विज्ञान एक ऐसा 'मूल्य' है जो उसे सही अर्थवत्ता प्रदान करता है। परन्तु स्थिति यह है कि आज जिस वैज्ञानिक समाज की संरचना हो रही है, उस संरचना में इस ज्ञान अथवा प्रेममूल्य का वह स्थान नहीं है, जो 'शक्तिमूल्य' का है। इस 'शक्ति-मूल्य' के अत्यधिक प्रभाव के कारण आज का मानव 'संकट' के दौर से गुजर रहा है, जो उसके अस्तित्व का प्रश्न भी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'शक्ति' अपने में अशुभ नहीं है। वह अशुभ तो तभी होती है, जब 'शक्ति' के लिए शक्ति का प्रयोग किया जाए।

मूल्य—विकासात्मक और सापेक्षिक-

अतः विज्ञान की मूल्य-चेतना ज्ञान-सापेक्ष है। ज्ञान जितना ही व्यापक होगा, उसका सम्बन्ध आगत और विगत से उतना ही गहरा होगा। आधुनिक मानव तोड़-फोड़ की संस्कृति को जन्म दे रहा है, और उसके लिए आधुनिकता का अर्थ परम्परा का बहिष्कार है। यह विचार विकासवादी परम्परा के विपरीत है, क्योंकि विकास का क्रम परम्परा का आधार लेकर ही गतिशील होता है, बिना अपनी परम्परा को पहचाने आधुनिक होना सम्भव नहीं है। परम्परा के रूप "मूल प्रवृत्तियों" का स्वरूप सदैव विकसित होता रहता है और "जीन" (Gene) का अस्तित्व प्राणि-मात्र में, उसे पैतृक संस्कारों से जोड़ देता है। शिशु का जन्म भी संस्कारों के रूप,

में "परम्परा" का पालन करता है। ज्ञान और मूल्य के सापेक्ष सम्बन्ध में इन विगत अनुभवों तथा स्मृतियों का एक अभिन्न स्थान है। मूल्य-चेतना कोई स्थिर चेतना नहीं है, वह गतिशील चेतना है जो युग-संवेदना तथा नव-ज्ञान की सापेक्षता में विकसित एवं परिवर्तित होती रहती है।

इस संदर्भ में यह स्पष्ट होता है कि समस्त 'मूल्य' विकासात्मक और सापेक्षिक हैं, वे पूर्णरूपेण शाश्वत एवं नित्य नहीं हो सकते हैं। मूल्य की चेतना निरपेक्ष नहीं होती है, वह मानवीय सम्बन्ध को किसी न किसी रूप में रूपायित करती है। सौन्दर्य, प्रेम, नैतिकता, ईश्वर, आत्मा, रस आदि की अवधारणाएं मूल्यवान हैं, पर इनकी अर्थवत्ता युग-सन्दर्भ के अनुसार बदल भी सकती है अथवा उन्हें नकारा भी जा सकता है।

इसी के साथ मूल्य अनुकूलित भी होते हैं। जैसे जैसे मनाव-सभ्यता विकसित होती गई, वह वातावरण तथा परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालती रही है और मूल्य भी उसी के अनुसार अनुकूलित होते रहे हैं। व्यक्ति अपने को परिवेश के अनुकूल रूपान्तरित करने की प्रक्रिया में अनुकूलित-मूल्यों का सृजन करता है। अतः मूल्य केवल सापेक्षित ही नहीं होते हैं, वरन् 'वे' अनुकूलित भी होते हैं।

सन्दर्भ संकेत

1. विज्ञान में दिक् के तीन आयाम (लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई) और काल का एक आयाम (लम्बाई) माना गया है, अतः दिक् काल के चार आयाम हुए।